जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 5 • मई, 2004

PLY
APOLLO™
BOARD

IS : 303

IS : 1659

Manufacturers of :

M.R. GRADE & BWR GRADE
PLYWOOD & BLOCK BOARD

APOLLO plywood products from Metro Plywood are created with an accent on quality and design. For homes, offices, plants and more ! APOLLO is durable, strongly bonded, resistant to termites and borers and possesses high tensile strength. Created as a hardworking slave for demanding architects, builders and interior designers.

With Best Compliments From :

M/L

METRO PLYWOOD PVT. LTD.

AN ISO 9001 COMPANY

AT & P.O. Damla, Delhi Road, Yamuna Nagar 135001 (Haryana)
Tel. : (01732) 282057, 282167, Mobile : 98120-21531
(Res.) 262120 (Bimal Chopra)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • मई, 2004 • अंक 5

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
शोधन : साधना के लिए

15
चतरसिंह मेहता
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

20
माणकचंद सिंघी
महावीर का अर्थशास्त्र : मानवीय संप्रेरणाएं

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

25
मुनि रमेशकुमार
मुणी मोणं समादाय

29
डॉ. बच्छराज दूगड़
अनुसंधान और पशुक्रूरता : औचित्य ?

32
समणी सत्यप्रज्ञा
संकल्प : विकास का सेतु

34
कहानी
सांत्वना
बच्चे

38
कविता
मनोहर वंद्योपाध्याय की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-अपरिग्रह

शीलन

41
साध्वी गवेषणा (कोप्पल)
भाव-जगत् : स्वरूप और मीमांसा

45
मुनि विनोदकुमार 'विवेक'
सच्चमेव समभिजाणाहि

53
बालकथा
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
जादू के खेल

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

जैसा दिया जाता है वैसा पाता है

'काफरला' गांव में साधु गोचरी गए। एक जाटनी के घर में धोवन पानी था, पर वह साधुओं को दे नहीं रही थी। उसने कहा—'जैसा दिया जाता है, वैसा मिलता है। मैं धोवन पानी नहीं पी सकती, इसलिए इसे नहीं दे सकती।'

साधुओं ने आकर स्वामीजी से कहा—'एक जाटनी के घर में धोवन पानी बहुत है, किंतु वह दे नहीं रही है।' तब स्वामीजी वहां पधारे और बहिन से कहा—'धोवन का पानी दे दो।'

उस बहिन ने कहा—'जैसा दिया जाता है, वैसा मिलता है और मुझसे धोवन पीया नहीं जाता, इसलिए इसे नहीं दे सकती।'

तब स्वामीजी ने कहा—'गाय को घास डाली जाती है और वह दूध देती है। ऐसे ही साधुओं को धोवन पानी देने से सुख मिलता है।'

यह सुनकर उसने कहा—'लो महाराज।'

स्वामीजी धोवन पानी ले अपने स्थान पर आ गए।

दीक्षा के डर से तो ज्वर नहीं हुआ

केलवा में एक बहिन कहती—'स्वामीजी यहां पधारेंगे, तब साध्वी बनूंगी।' इस प्रकार वह बात करती रहती। कुछ दिनों बाद स्वामीजी वहां पधार गए।

स्वामीजी के आने के डर से उसके ज्वर चढ़ गया। सांझ के समय वह दर्शन करने आई। तब स्वामीजी ने पूछा—'क्या हुआ? इस प्रकार क्यों बोलती हो?'

तब सुबकती हुई वह बोली—'स्वामीजी, आप पधारे और मुझे ज्वर हो गया।'

स्वामीजी ने पूछा—'दीक्षा के डर से तो ज्वर नहीं हुआ है?'

तब वह बोली—'यह बात मन में आई तो थी।'

स्वामीजी ने कहा—'यों दहलती हो, तो कैसे काम होगा? दीक्षा का काम तो जीवन-भर का है।' ❖

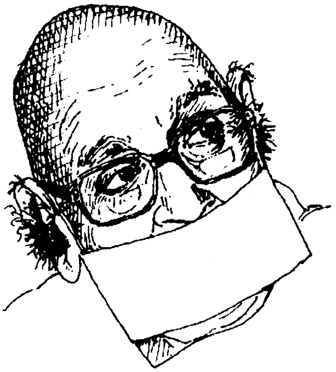

जैन आगमों में दो शब्द आते हैं—समिति और गुप्ति। मन की समिति भी होती है और गुप्ति भी। समिति का अर्थ है—सम्यक् प्रवृत्ति। मन का निरोध संभव न हो तो उसकी दिशा को सही रखने के लिए मनःसमिति को साधन बनाया जा सकता है। गुप्ति का अर्थ है—निरोध। निरोध की प्रक्रिया से मन अमन बन जाता है, पर यह काम सरल नहीं है। जब तक अचिंतन की स्थिति का निर्माण न हो, तब तक यह कठिन है। चिंतन और अचिंतन के बीच संतुलन साध लिया जाए तो अनेक समस्याओं से बचाव हो सकता है।

मनुष्य अपने-आप को बहुत शक्तिशाली मानता है। वह शक्तियों का अखूट भंडार है भी। इसमें संदेह को अवकाश नहीं है। किंतु जब तक मन पर विजय नहीं होती, अन्य क्षेत्रों में प्राप्त विजय अधूरी है। मन को जीतने की निष्पति है—मन की चंचलता को समाप्त करना। चंचलता की स्थिति में उचित-अनुचित का विवेक नहीं रह पाता। अस्थिर मन सबसे बड़ी पराजय है। यह मानकर उसकी स्थिरता को सर्वाधिक मूल्य देना चाहिए।

—आचार्यश्री तुलसी

अच्छा समाज वह होता है, जहां न अर्थ का अभाव होता है और न प्रभाव। जिस समाज में अर्थ का अभाव होता है, वहां विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। अभावग्रस्त समाज में जीने वाले दो समय की रोटी की चिंता में ही अपनी सारी शक्ति खपा देते हैं। उन्हें कुछ नया सोचने और नया करने का अवसर ही नहीं मिलता। सीधे-सीधे कहें तो उनकी सारी दिनचर्या नून, तेल, लकड़ी के इर्द-गिर्द ही घूमती है।

दूसरी ओर पश्चिम के कई देश ऐसे हैं, जहां धन की, पदार्थ की कोई कमी नहीं है। फिर भी वे समस्याओं से संत्रस्त हैं। भ्रष्टाचार, हत्या, आतंक, अपहरण, तलाक आदि वहां की प्रमुख समस्याएं हैं। इन समस्याओं का मूल कारण है—चरित्र का अभाव।

जिस समाज में अभाव की व्यथा नहीं होती तथा ज्ञान, नैतिकता और आचार के प्रति निष्ठा होती है, वही समाज स्वस्थ और परिपूर्ण समाज कहलाता है।

—युवाचार्य महाश्रमण

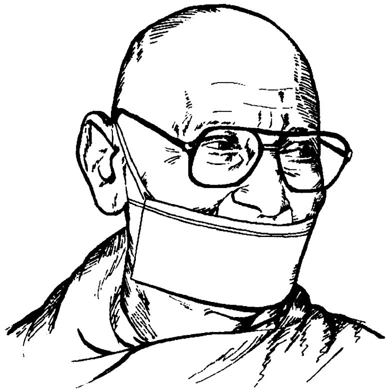

जीवन का सूत्र है—काम में लो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित हैं, उनके जीवन में प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है। जो इस सूत्र से परिचित नहीं हैं—केवल लेना जानते हैं, भोग करना जानते हैं, किंतु त्याग करना नहीं जानते—उन्हें न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य। जो धन का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते—वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर धुएं को अपने भीतर संचित कर रहे हैं। जो सत्ता का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते—वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे हैं। त्याग की प्रतिध्वनि केवल अध्यात्म के मंदिर में ही नहीं हो रही है, व्यवहार के कण-कण में भी त्याग प्रतिबिंबित हो रहा है।

यदि मनुष्य त्याग की सत्ता से परिचित नहीं होता तो वह स्वतंत्र और सम्मानपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझाता है और त्याग से वह खिलता है।

सच यह है कि हम लोग विषय को त्यागने की बात जितनी जानते हैं, उतनी वासना को त्यागने की बात नहीं जानते हैं। इसीलिए हम बहुत बार त्याग करके भी अत्याग की अनुभूति करते हैं।

त्याग तभी होता है, जब अनुराग का स्रोत बाहर से मुड़कर भीतर बहने लग जाता है। एक व्यक्ति ने आवेगों को सहलाते हुए कहा—'बंधुवर क्रोध! तुम अपना दूसरा घर ढूंढ़ लो। भाई मान! तुम भी चले जाओ। देवी माया! तुम यहां नहीं रह सकती। मित्र लोभ! तुम भी चले जाओ। मेरे अनुराग का स्रोत अब भीतर प्रवाहित होने लगा है। इसलिए वह और तुम एक साथ नहीं रह सकते।'

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-अपरिग्रह

परिग्रह के मूल में ही भोग की लालसा और पदार्थ के प्रति आसक्ति परिलक्षित होती है। इसलिए अहिंसा पर विचार करते हुए यदि हम अपरिग्रह की ओर देखेंगे ही नहीं, तो बात अधूरी रह जाएगी। अपरिग्रह के अभाव में अहिंसा की उपलब्धि संभव नहीं। हिंसा के कारणों पर जब दृष्टिपात करेंगे तो हम पाएंगे कि इसके अनेकशः कारण परिग्रह में ही व्याप्त हैं। अतः अहिंसा के साथ-साथ हमें अपरिग्रह पर भी गंभीरता से सोचना जरूरी है।

क्या समाज परिग्रहमुक्त रह सकता है? 'मनुष्य-इकाई' के लिए तो किसी हद तक यह संभव हो सकता है, पर 'समाज-स्तर' पर इसकी संभावना प्रतीत नहीं होती। तब क्या समाज के मूल में ही परिग्रह है? आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें तो मानना होगा कि शरीर भी परिग्रह है। जैनमत इस दृष्टि से स्पष्ट इंगित देता है। जैनमत के अनुसार 'आत्मा भिन्न शरीर भिन्न'। माना गया है कि जो व्यक्ति शरीर-मूर्च्छा या देहासक्ति को कम करता है, उसे कष्ट कम होता है, उसके दुख स्वल्प हो जाते हैं।

व्यावहारिक रूप में हम यदि गौर से देखें तो महसूस करेंगे कि अपनी देह के प्रति जो जितना आसक्त है, उसका जीवन उतना ही कष्टमय है। जो जितना देहासक्तिमुक्त है, वह उसी रूप में आनंद में भी है। शरीर भिन्न और आत्मा भिन्न जैसी अवस्था पर हम न भी पहुंच सकें, पर देह के प्रति अपनी आसक्ति तो कम कर ही सकते हैं।

अब हम विचार करें कि 'मनुष्य-इकाई' के रूप में हर कोई यदि यही दृष्टिकोण रखे और निष्ठापूर्वक इसके प्रति सचेष्ट रहे, तो क्या समाज में समता का उद्‌भव सहज ही नहीं हो जाएगा? कहना होगा—हो जाएगा। माना जा सकता है कि इस प्रकार समाज भी परिग्रहमुक्त हो सकता है। यदि 'मनुष्य-इकाई' शरीर या देह की आसक्ति से मुक्त हो जाए तो 'समाज-स्तर' पर इसकी संभावना काफी प्रबल हो सकती है। हिंसा-मुक्त होने का एक बड़ा सोपान यही हो सकता है।

हम देखते हैं कि भोग-उपभोग में फंसे रहने की वजह से ही सब ओर गला-काट होड़ लगी हुई है। उचित-अनुचित का विवेक इसीलिए तिरोहित है। इसी का उग्र रूप आतंक और सामाजिक-विद्रोह है। हिंसा का जो तांडव नजर आता है, उसके रूप ही अलग-अलग हैं, मूल में लक्षण एक ही है। संगठित हिंसा के रूप में कहीं धर्म-संप्रदाय की चादर तले, तो कहीं साम्राज्य और सत्ता के लिए चलने वाले घमासानों के रूप में ये लक्षण हमें दिखाई देते हैं, पर इसका बुनियादी कारण विषमता और विवेकहीनता ही है। सब जानते हैं कि संगठित हिंसा के लिए जुटने वाली शक्ति के स्रोत क्या हैं। ये स्रोत अभावों और बदहाली में से ही निकलते हैं, इन्हीं से निकल कर एक गिरोह का रूप बनता

है और कालांतर में ऐसे गिरोह 'समानांतर-सत्ता' की तरह शक्ति-संपन्न हो जाते हैं। पर हम पाएंगे कि इनकी प्रारंभिक जड़ विषमता में ही होती है और विवेकहीनता इन जड़ों को मजबूती देती है।

जाहिर है कि अहिंसक-समाज के लिए परिग्रह-मुक्त समाज होना जरूरी है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्या यह संभव है? जिन त्रासपूर्ण हालातों में हम जी रहे हैं, एक ही उपाय है कि ऐसी समाज-संरचना के लिए गंभीर चिंतन हो। बचाव का कोई अन्य मार्ग प्रतीत नहीं हो रहा। परिग्रह-अपरिग्रह के मूल भावों को यदि ठीक से समझा जाए तो हम पाएंगे कि बचाव का मार्ग जटिल नहीं है। बेशक इसके लिए दृढ़ इच्छाशक्ति और दिव्य नेतृत्व आवश्यक है।

अपरिग्रह के मूल भाव पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का सामयिक दृष्टिकोण हमें देखना चाहिए। वे कहते हैं : 'गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का पर्यायवाची शब्द है इच्छा-परिमाण। इच्छा का परिमाण करना, संयम करना।' वे इसके लिए कुछ शर्तें रखते हैं। कहते हैं : 'पहली शर्त है—अर्थ के अर्जन में शुद्ध साधनों का प्रयोग। यह सीमा नहीं, कि कितना कमाए। करोड़ों रुपये कमा सकते हैं, किंतु अर्जन के साधनों की शुद्धि रहनी चाहिए।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दूसरी शर्त बताते हैं : 'व्यक्तिगत भोग की सीमा। किसी में बौद्धिक कौशल है, व्यावसायिक क्षमता है—वह अर्थ का अर्जन करेगा और काम समाज के आएगा। समस्या वहां है—जहां अर्जन के साधनों में अशुद्धि रहती है, गरीबों का शोषण होता है, अप्रामाणिक व्यवहार होता है। समस्या वहां है—जहां व्यक्तिगत ऐशो-आराम और विलासिता के लिए धन का दुरुपयोग होता है। यदि अपरिग्रह का यह दृष्टिकोण समझ लिया जाए तो समस्या का समाधान हो सकता है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उपरोक्त कथन और महात्मा गांधी के 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धांत को हम साथ-साथ रख कर देखें। गांधी भी ट्रस्टीशिप में शुद्ध साधनों के प्रयोग, प्रामाणिक व्यवहार की बात करते हैं। ट्रस्टीशिप में इच्छा-परिमाण और संयम की बात भी प्रकारांतर से निहित है। ट्रस्टीशिप संपत्ति और आय पर समान हिस्सेदारी की बात करता है। एक औद्योगिक प्रतिष्ठान में काम करने वाला छोटा कामगार और सबसे बड़ा प्रबंधक यदि समान हिस्सेदारी रखे तो इच्छा-परिमाण या संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थितियां अहिंसक समाज रचना में सहायक हो सकती हैं।

गांधीजी का एक अन्य प्रसंग भी स्मरण योग्य है। आजादी के आंदोलन के दौरान सतीशचंद्र दासगुप्त ने गांधीजी को धन भेजा। गांधी ने उसे लौटा दिया और कहा कि मुझे यह धन नहीं चाहिए, मुझे आपकी आवश्यकता है। धन तो कहीं से भी जुटाया जा सकता है, पर जिस कुशाग्रता की जरूरत मुझे है, वह आपका साथ होने से ही पूरी होगी। इस प्रसंग पर हम गौर करें। साधन-शुद्धि, प्रामाणिकता और नैतिकता जैसे चारित्रिक गुणों का उपयोग भौतिक संसाधनों के अर्जन में वहां हो ही रहा था, फिर भी गांधीजी ने वह धन लौटाया। संसाधनों के प्रति ऐसा अनासक्त भाव गांधीजी ने प्रकट किया। यह बिरले प्रकार की अलोलुपता है जो बड़े लक्ष्य को हासिल करने के लिए अधिक प्रभावोत्पादक मानी जाएगी। तात्पर्य यह कि सामाजिक जीवन में ऐसी अनासक्ति ही अहिंसक समाज-संरचना में सहायक हो सकती है।

इस तरह हम पाते हैं कि दिव्य नेतृत्व और दिशाबोध से सर्वथा रीते नहीं हैं—हम। तथापि यह कटु सत्य है कि अपनी विरासत के प्रति हम निरे लापरवाह और गाफिल अवश्य हैं। यदि हम चाहते हैं कि एक ऐसे समाज की रचना हो—जिसमें समता, परस्परता और सहजीवन केंद्र में रहें तो हमें अपनी परंपरा में झांक कर देखना ही चाहिए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसका स्मरण कुछ इस तरह दिलाते हैं : 'अहिंसा के साथ जुड़ा हुआ तत्त्व है—अपरिग्रह। महात्मा कौटिल्य ने चार पुरुषार्थों में अर्थ को प्रमुख स्थान दिया है। वर्तमान युग की अनेक समस्याओं का कारण विकास की अवधारणा का असंतुलन है। विकास की अवधारणा को संतुलित करने के लिए हमें एक चतुष्कोण का निर्माण करना होगा। वे चार कोण होंगे—आर्थिक विकास, भौतिक विकास, नैतिक विकास और आध्यात्मिक विकास। हमारा आर्थिक विकास ऐसा नहीं होना चाहिए जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को बाधित करे।'

व्यापक स्तर पर ऐसा तभी संभव हो सकता है जब हमारी नीतियां नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के अनुरूप हों। कथनी के तौर पर इनसे असहमति नहीं होगी, पर हकीकत में यह कितना हो पाता है—किसी से छिपा नहीं। कथनी और करनी का ऐसा विक्षेप मिटना जरूरी है। इसके लिए आवश्यक है कि हमारी जीवन-शैली शुरू से ही उन मानदंडों के अनुरूप हो जो अहिंसक जीवन-शैली को सुदृढ़ कर सकें।

—शुभू पटवा

विमर्श

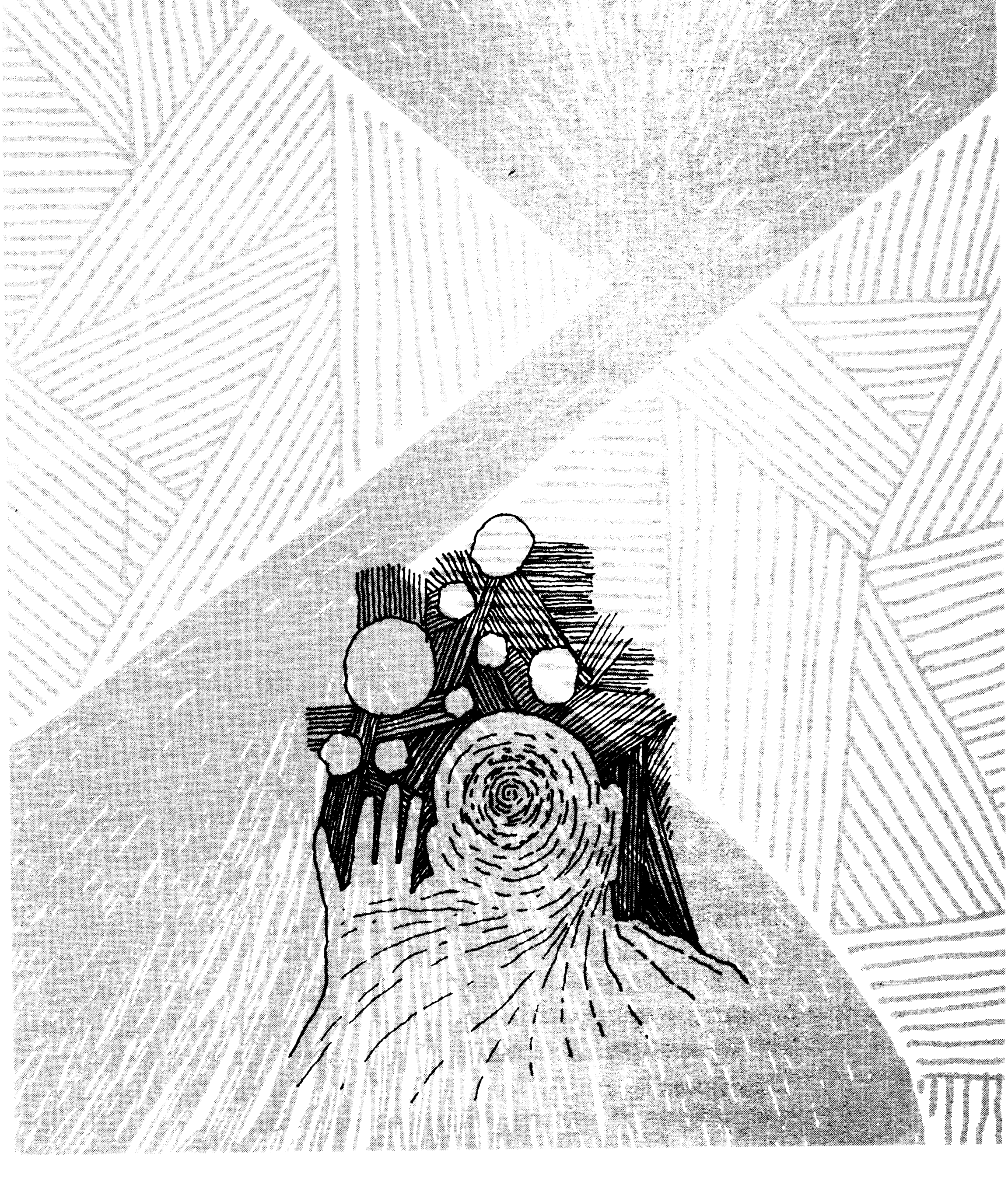

जगत में जो-कुछ भी दिख रहा है, वह अनंत शून्यों का संघात है! और काल की बात भी सोचिए। जो आनेवाला है और जो बीत गया, दोनों कभी थे या होंगे—इसका कोई सबूत है? प्रत्यक्ष तो केवल क्षण है। हम सिर्फ एक क्षण को जानते हैं। परंतु क्षण—वह छोटा-से-छोटा है। कल्पना कीजिए, हम जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वह कितना है। एक क्षण। और भी छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—कुछ नहीं, शून्य! अर्थात् काल भी अनंत शून्यों का संघात है। वह एक प्रतीति मात्र है। सो यह जो-कुछ स्थान और काल के रूप में दिख रहा है, वह कुछ नहीं है। दादू ने कहा था—'कुछ नाहीं का नाम दे, भरमा यह संसार!' भरम ही तो रहा है यह संसार। जो-कुछ नहीं है, उसका कुछ नाम दे देता है और जब नाम दे देता है तो उसका अर्थ भी समझने लगता है। जरा सोचिए कि किसी वस्तु का अनंतवां भाग क्या सचमुच 'शून्य' है? 'अनंत' और 'शून्य' मनुष्य की बुद्धि की पराजय के सूचक हैं, भाषा में चलने वाले काम-चलाऊ शब्द हैं। नहीं तो कैसा अनंत और कैसा शून्य!

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

अहं की ग्रंथि बहुत जटिल होती है। उसको तोड़ना कठिन है। उसके शोधन की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—स्वाध्याय और ध्यान। इन दो साधनों के द्वारा अहं की ग्रंथि को काटा जा सकता है। अपने-आप को जानने का प्रयत्न, अध्ययन, मनन और चिंतन स्वाध्याय है। जब यह ज्ञान और चिंतन एकाग्रता के निश्चित बिंदु पर पहुंचता है, तब वह ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—एक ही हैं; वास्तव में, दो नहीं हैं। केवल मात्रा का अंतर है, परिमाण का अंतर है। पानी-पानी है और पानी बरफ भी है। पानी में और बर्फ में कोई अंतर नहीं है, किंतु बिंदु का अंतर है। तापमान के एक बिंदु पर पानी पानी है और अंतिम बिंदु पर वही बरफ बन जाता है, जम जाता है। पानी तरल है। ज्ञान तरल है। बरफ ठोस है, सघन है। ध्यान ठोस है, सघन है। एक बिंदु पर पहुंच कर ज्ञान ही ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—ये दो ऐसे साधन हैं जो अहं की ग्रंथि को तोड़ डालते हैं।

शोधन : साधना के लिए

✍ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अच्छे जीवन के लिए आत्म-नियंत्रण आवश्यक है। आत्म-नियंत्रण और आत्म-दमन की भाषा को पुरानी भाषा माना जाता है। वर्तमान का विचार है कि मनोभावों का दमन नहीं होना चाहिए, नियंत्रण नहीं होना चाहिए। मनोभावों का नियंत्रण करने से अनेक विकृतियां पैदा होती हैं। स्वाभाविक मनोभावों को यदि दबाया जाता है, उनको रोका जाता है तो वे दमित वासनाएं व्यक्ति को विकृत बनाती हैं और मस्तिष्क में एक प्रकार का पागलपन, कुंठा भर देती हैं। इसलिए उनका दमन नहीं होना चाहिए। इस बात में कुछ सचाई है, किंतु किसी भी बात को हम पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो स्वयं सत्य का ही अपलाप हो जाता है। प्रत्येक विचार सापेक्ष होता है। उस सापेक्षता को समझे बिना, यदि उसे ही सर्वांगीण या सार्वभौम विचार मानकर वैसा-का-वैसा स्वीकार कर लिया जाए तो सत्य की दिशा ही उलट जाए और हम असत्य की ओर प्रस्थान कर जाएं।

यदि केवल दमन ही होता तो आत्म-नियंत्रण से बहुत बड़ी उपलब्धियां नहीं होती। अध्यात्म की साधना में दमन के साथ-साथ शोधन की क्रिया भी होती है। कोरा दमन नहीं, कोरा नियंत्रण नहीं; आत्म-नियंत्रण, आत्म-शोधन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। आत्म-नियंत्रण आत्म-शोधन के लिए है। यदि उद्देश्य आत्म-शोधन है तो आत्म-नियंत्रण उसका साधन है। आत्म-शोधन साध्य है, तो आत्म-नियंत्रण उसका साधन है। साधन का उपयोग न किया जाए, यह बात समझ में नहीं आती। साधन का उपयोग बहुत ही आवश्यक है। इस बात को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि आत्म-शोधन परम आवश्यक है।

शोधन की प्रक्रिया निरंतर होनी चाहिए। यह निरंतर चालू रहनी चाहिए। आत्म-शोधन या अंतः-शोधन की सबसे बड़ी बाधा है—अहं। यह बहुत बड़ी समस्या है। व्यक्ति कुछ अर्जित किए हुए होता है। न जाने उसने कितनी गलत आदतें, गलत संस्कार अर्जित किए हुए हैं। किंतु आदमी उनका प्रायश्चित्त करना नहीं चाहता। उनका शोधन, परिमार्जन और परिष्कार करना नहीं चाहता और इसलिए नहीं चाहता कि अहं उसमें बाधक है। अहं की एक ग्रंथि मन में निर्मित हो जाती है। उसका शोधन नहीं होता, प्रायश्चित्त नहीं होता तो वह आदमी दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में नहीं जा सकता। जो व्यक्ति दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में—आत्मा की शरण में नहीं जा सकता, वह प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। अहं इसमें सबसे बड़ी बाधा है। जो अहंभाव से पीड़ित है वह विनम्र नहीं हो सकता। वह दूसरों को सहयोग नहीं दे सकता, संयम का भी

योग नहीं दे सकता। उसे पग-पग पर अहं सताने लग जाता है।

अहं जब विस्तृत होता है तब ममकार बन जाता है। ममकार कोई अलग नहीं है। अहं का ही एक रूप है—ममकार। जब अहंकार किसी के साथ घनिष्ठ संबंध *जोड़ लेता है, किसी को घनिष्ठ मान लेता है तो वह* अहंकार ममकार के रूप में बदल जाता है। मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा घर—यह जो मेरापन है, वह सारा ममकार है। यह अहं का ही विस्तार है। अहंकार ने शरीर, धन आदि के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली और वह ममकार के रूप में बदल गया। इस अहं का विसर्जन कठिन होता है। आत्म-शोधन में यह बहुत बड़ी बाधा है। जो व्यक्ति आत्म-नियंत्रण करता है—बाहरी आवेगों और बाहरी निमित्तों से बच जाता है। अहं के शोधन की, अहं के विसर्जन की संभावनाएं उसके सामने सहजरूप में उपस्थित हो जाती हैं।

अहं की ग्रंथि बहुत जटिल होती है। उसको तोड़ना कठिन है। उसके शोधन की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—स्वाध्याय और ध्यान। इन दो साधनों के द्वारा अहं की ग्रंथि को काटा जा सकता है। अपने-आप को जानने का प्रयत्न, अध्ययन, मनन और चिंतन स्वाध्याय है। जब यह ज्ञान और चिंतन एकाग्रता के निश्चित बिंदु पर पहुंचता है, तब वह ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—एक ही हैं; वास्तव में, दो नहीं हैं। केवल मात्रा का अंतर है, परिमाण का अंतर है। पानी-पानी है और पानी बरफ भी है। पानी में और बर्फ में कोई अंतर नहीं है, किंतु बिंदु का अंतर है। तापमान के एक बिंदु पर पानी पानी है और अंतिम बिंदु पर वही बरफ बन जाता है, जम जाता है। पानी तरल है। ज्ञान तरल है। बरफ ठोस है, सघन है। ध्यान ठोस है, सघन है। एक बिंदु पर पहुंच कर ज्ञान ही ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—ये दो ऐसे साधन हैं जो अहं की ग्रंथि को तोड़ डालते हैं।

ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—ये दोनों तप हैं। अहं की सारी जड़ों को ये उखाड़ डालते हैं। आत्म-नियंत्रण की प्रक्रिया आत्म-शोधन के साथ-साथ चलती है। जहां कोरा आत्म-नियंत्रण होता है, वहां आत्म-शोधन नहीं होता और जहां कोरा उपवास होता है, वहां कोरा कायक्लेश है, कोरी प्रतिसंलीनता है। यदि उनके साथ ज्ञान और ध्यान नहीं हो तो कोरे आत्म-नियंत्रण से मनुष्य में विकृतियां ही उभरती हैं।

अध्यात्म के साक्षात् द्रष्टाओं ने किसी एक ही सत्य का प्रतिपादन नहीं किया और किसी एकांगी साधना का उपदेश नहीं दिया। उन्होंने समग्र मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा *कि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए, उन्नत* जीवन की उपलब्धि के लिए, अच्छे जीवन के निर्माण के लिए आत्म-नियंत्रण और आत्म-शोधन—दोनों जरूरी हैं। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। दोनों का योग होना चाहिए।

महावीर से पूछा गया—'क्या ज्ञान मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं, कोरा ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है।'

'क्या दर्शन मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

'क्या चारित्र मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

आश्चर्य है कि महावीर कहते हैं—'ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है। दर्शन मोक्ष का मार्ग नहीं है। चारित्र मोक्ष का मार्ग नहीं है।' फिर प्रश्न होता है—'भंते! तो फिर मोक्ष का मार्ग कौन-सा है?' महावीर कहते हैं—'अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन, अकेला चारित्र मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकते। जब तीनों का योग होता है, तब मोक्ष घटित होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तीनों का समन्वित योग ही मोक्ष का मार्ग है। इनमें से कोई अकेला मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकता।'

हम किसी एक बात को पूरी बात न मान लें। हम इस दृष्टि से सोचें कि कोई व्यक्ति किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है, चिंतन प्रस्तुत करता है तो वह मात्र एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी है। हम एक चिनगारी को पूरी आग न मान लें, उसे मात्र एक चिनगारी ही मानें। आग और है, चिनगारी और है। एक कथन को, एक प्रतिपादन या चिंतन को पूरा न मानें।

कोरा आत्म-नियंत्रण करने वाले को भी हम साधक न मानें और कोरे आत्म-शोधन को भी साधना न मानें। जब आत्म-नियंत्रण और आत्म-शोधन—दोनों हैं, दोनों का योग होता है, तब अध्यात्म की यात्रा संपन्न होती है और हम जहां पहुंचना चाहते हैं, वहां पहुंच जाते हैं।

हम दो व्यक्तित्वों में जीते हैं। एक है—स्थूल व्यक्तित्व और दूसरा है—सूक्ष्म व्यक्तित्व। इस भौतिक शरीर से, पौद्‌गलिक शरीर से हमारा जो संबंध है वह समूचा स्थूल व्यक्तित्व है। हमें जीव माना जाता है। हम जीव के रूप में पहचाने जाते हैं, इसलिए कि हमारे स्थूल शरीर में कुछ ऐसी क्रियाएं हैं, लक्षण हैं जो केवल प्राणी में ही मिलते हैं, पदार्थ में नहीं। पदार्थ और प्राणी के बीच यह एक भेदरेखा खींची गई। पदार्थ अचेतन होता है और प्राणी सचेतन। सचेतन और अचेतन के बीच भेदरेखा खींची गई, कुछ लक्षण निर्धारित किए गए। जिनमें अमुक लक्षण मिलते हैं वह प्राणी और जिनमें ये लक्षण नहीं मिलते वह प्राणी नहीं होता। वह अचेतन है, पदार्थ है, पौद्‌गलिक है।

हमारे इस स्थूल शरीर की जो भेद-रेखाएं हैं, वे हमें जीव प्रमाणित करती हैं। हम उनके द्वारा जीव प्रमाणित होते हैं। हमारा सूक्ष्म व्यक्तित्व—हमारी दृष्टि में जीव नहीं है, आत्मा नहीं है। हमारा स्थूल व्यक्तित्व—हमारी दृष्टि में जीव है, आत्मा कोई माने या न माने। सूक्ष्म व्यक्तित्व से स्थूल व्यक्तित्व तक पहुंचने के लिए दस संस्थानों का निर्माण किया गया है। गति, इंद्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद। ये दस बड़े-बड़े संस्थान हैं, कारखाने हैं। आज के बड़े-से-बड़े कारखाने इनकी तुलना में छोटे पड़ते हैं। छोटे भी इतने कि एक ओर पर्वत है तो एक ओर राई है। वर्तमान की दुनिया के सारे औद्योगिक संस्थानों के आंकड़े हम एकत्र करें और एक स्थूल शरीर के कारखाने के आंकड़े एकत्र करें तो दोनों की तुलना नहीं हो सकेगी। हमारे शरीर का कारखाना सबसे बड़ा प्रमाणित होगा।

आज के विज्ञान ने सूक्ष्मता के जगत् में हमारी दृष्टि को इतना स्पष्ट कर डाला है कि आज पुरानी सूक्ष्म बातों को पुष्ट करने के लिए या प्रमाणित करने के लिए हमारे मन में साहस है, तनिक भी हिचक नहीं है। विज्ञान की इस सूक्ष्म जगत् की यात्रा से पूर्व हम स्वयं प्राचीन तथ्यों को सचोट कहने में हिचकते थे और कभी-कभी मन-ही-मन उनकी यथार्थता के प्रति संदेह भी अभिव्यक्त कर देते थे। हम विज्ञान के बहुत आभारी हैं। आज के वैज्ञानिकों ने इतने सूक्ष्म तथ्य प्रतिपादित किए हैं कि अतीत में प्रतिपादित सूक्ष्म सत्यों को प्रकट करने में हमें अब कोई संकोच ही नहीं होता। एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। हमारा यह शरीर 'सेलों' से बना है, कोशाणुओं से निर्मित है। शरीर की प्रत्येक कोशिका एक अवयव का निर्माण करती है। ये 'सेल' बहुत सूक्ष्म हैं। एक इंच की लंबाई में 2500 कोशाणुओं को सीधी लाइन में रखा जा सकता है। हर सूक्ष्म कोशाणु एक बड़ा कारखाना है। उसके ग्यारह विभाग हैं। उसका अपना विद्युत-गृह है, जो विद्युत पैदा करता है। प्रत्येक कोशिका के पास अपना मस्तिष्क है जो सारा नियंत्रण करती है। पूरी व्यवस्था है। उसका एक विभाग ऐसा है जो प्राप्त वस्तुओं को रसायन में बदल देता है, उसे विटामिन बनाता है। प्रत्येक 'सेल' में दस हजार से लेकर एक लाख तक निर्देश अंकित होते हैं। ऐसे अरबों-खरबों 'सेल' हैं हमारे शरीर में। इनकी तुलना किस से करें, कैसे करें?

यह स्थूल शरीर के सूक्ष्म जगत् की बात है। सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत् कैसा होगा—कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस सूक्ष्म शरीर ने इस स्थूल शरीर का निर्माण किया, उस स्थूल शरीर की यह सूक्ष्म रचना है। तो जो निर्माता है सूक्ष्म शरीर, उसकी सूक्ष्मता पर विचार करें तो शायद आदमी का दिमाग काम ही नहीं कर पाएगा। बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत्।

इस सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए या स्थूल शरीर को जीव का व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए दस बड़े कारखाने खोल रखे हैं। इन कारखानों का काम यह है कि जो सूक्ष्म आए उसे स्थूल बनाना, उसे स्थूल शरीर में भेजना और इस स्थूल शरीर के व्यक्तित्व को जीव का स्वरूप प्रदान करना, जिससे कि हम पहचान सकें कि यह जीव है।

गति का कारखाना ऐसा है जो किसी को मनुष्य, किसी को पशु, तिर्यंच बनाता है। प्राणियों की जितनी जातियां-उपजातियां हैं, वे सारी इसी की निर्मितियां हैं। वह अमुक-अमुक प्रकार के 'सेलों' का निर्माण करता है और अपने-अपने ढंग के प्राणी निर्मित हो जाते हैं। हर प्राणी के 'सेल' भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और वे भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करते हैं। बड़ी बुद्धि से काम लेना पड़ता है, इस गति के कारखाने को। एक छोटा-सा उदाहरण लें। इन वर्षों में मच्छरों को मारने के लिए डी.डी.टी. का प्रयोग किया गया। प्रारंभिक वर्षों में मच्छर कम होने लगे, किंतु मच्छरों के कोशाणुओं ने ऐसा परिवर्तन कर लिया कि अब डी.डी.टी. का उन पर कोई असर नहीं होता। वे बढ़ रहे हैं।

इंद्रियों का संस्थान भी बहुत बड़ा है। यह सारी इंद्रियों का काम संचालित करता है। जीव का एक लक्षण है—गति। जो मनुष्य होता है, पशु होता है, हम उसे जीव मानते हैं। जीव का दूसरा लक्षण है—इंद्रिय। जिसके इंद्रियां होती हैं, वह जीव होता है। अजीव में इंद्रियां नहीं होतीं।

कषाय का कारखाना भी बहुत विशाल है। जीव का तीसरा लक्षण है—कषाय। जो क्रोध करता है, मान और माया करता है, लोभ करता है—वह जीव होता है। पत्थर में न क्रोध है, न मान है, न माया और लोभ है—वह अजीव है। जिसमें कषाय है, वह जीव होता है। जिसमें कषाय नहीं है, वह जीव नहीं होता। वह अजीव होता है। कषाय हमारे स्थूल व्यक्तित्व का एक लक्षण है। कषाय के परमाणुओं को संप्रेषित करना, उनके स्रावों को बाहर भेजना—जो सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म हैं, उन परमाणुओं को स्थूल बनाकर और एक भाव का रूप देकर बाहर भेजना—इस कारखाने का काम है।

चौथा संस्थान है—लेश्या का। जिसमें लेश्या होती है, वह जीव होता है। जिसमें 'ओरा' होती है, वह जीव होता है। यहां एक प्रश्न उभरता है कि 'ओरा' तो अचेतन में भी होती है, अजीव में भी होती है। जो भी पदार्थ हैं, उनमें से रश्मियां निकलती हैं, पदार्थ का लक्षण ही है—रश्मियों को विकीर्ण करना। हर पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं। रश्मियां 'ओरा' बन जाती हैं। एक ईंट की रश्मियां भी 'ओरा' बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे मानें कि जिसमें लेश्या होती है, 'ओरा' होती है—वह जीव होता है और जिसमें लेश्या नहीं होती, 'ओरा' नहीं होती है—वह अजीव होता है?

यह लक्षण घटित नहीं होता। इसमें दोष है। 'ओरा', जीव और अजीव दोनों में होती है। यह प्रश्न आता है। हम इसे समझें। यह सच है कि पदार्थ में, अजीव में भी 'ओरा' होती है, किंतु उसकी 'ओरा' निश्चित होती है। वह बदलती नहीं। जीव की 'ओरा' अनिश्चित होती है, बदलती रहती है। कभी उसकी 'ओरा' अच्छी होती है और कभी बुरी होती है। कभी उसके रंग अच्छे हो जाते हैं और कभी बुरे हो जाते हैं। और यह इसलिए होता है कि उसको बदलने वाला लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र भीतर विद्यमान है। पदार्थ में कोरा विकिरण होता है, किंतु उस विकिरण को बदलने वाला, परावर्तित करने वाला कोई तत्त्व भीतर नहीं है।

प्राणी की 'ओरा' का नियामक तत्त्व है—लेश्या। लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या, पौद्गलिक लेश्या और आत्मिक लेश्या। वह निरंतर बदलती रहती है। पदार्थ में यह परिवर्तन नहीं होता। पदार्थ के बारे में एक वैज्ञानिक निश्चित बात कह सकता है, निश्चित नियम बना सकता है। उनके सार्वभौम नियमों की व्याख्या की जा सकती है, किंतु प्राणी के बारे में कोई निश्चित नियम या व्याख्या नहीं की जा सकती। सामियाना बंधा है। वह इच्छा हो तो छाया करे, इच्छा न हो तो न करे—ऐसा कभी नहीं होता। यदि वह बंधा है, तो निश्चित ही छाया करेगा। किंतु प्राणी के लिए यह घटित नहीं होता। वह जब इच्छा होती है तब छाया में बैठ जाता है और जब इच्छा होती है तब धूप में बैठ जाता है। गरमी लगती है तो छाया में आ जाता है और सर्दी लगती है तो धूप में चला जाता है। प्राणी की यह स्वतंत्रता है। अ-प्राणी की यह स्वतंत्रता नहीं होती। रेलगाड़ी के लिए यह संभव नहीं है कि वह यह सोचे कि मैं पटरी पर इतने मील चली हूं तो अब सीधे रास्ते से चलूं। किंतु एक छोटी-सी चींटी के लिए यह संभव है। प्राणी की जो विशेषता है, वह है उसकी स्वतंत्रता, विचार की स्वतंत्रता। विचार का संस्थान, भाव का संस्थान इतना बड़ा है कि उसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, उसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। आज के मनोवैज्ञानिकों के हजारों-हजारों प्रयोगों और अन्वेषणों के बावजूद सभी प्राणियों के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सका और भविष्य में भी नहीं बनाया जा सकेगा।

प्राणी और पदार्थ में यह मौलिक अंतर है कि पदार्थ की 'ओरा' निश्चित होती है। उसमें परिवर्तन करने वाला नियामक तत्त्व नहीं होता। प्राणी की 'ओरा' बदलती रहती है। उसमें कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी नीला और कभी सफेद रंग उभर आता है। आदमी के भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं। आदमी गुस्से में होता है तो लाल रंग का 'ओरा' बन जाता है। आदमी शांत होता है तो सफेद रंग का 'ओरा' बन जाता है। 'ओरा' प्राणी का लक्षण है, किंतु इसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिए कि परिवर्तनशील 'ओरा' प्राणी का लक्षण है। लेश्या प्राणी का लक्षण है।

लेश्या का यह बहुत बड़ा कारखाना है। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की

तरंगें—इन सब तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, कर्म तक, क्रिया तक पहुंचा देना—यह इसका काम है। यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में यदि कोई संपर्क-सूत्र है तो वह वास्तव में है लेश्या। लेश्या ही संपर्क सूत्र है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के द्वारा जो-कुछ बाहर से आता है, वह कच्चा माल होता है। लेश्या उसे लेती है और उसे कषाय तक पहुंचा देती है। वह कच्चा माल कषाय के संस्थान तक पहुंच जाता है। यह लेश्या का काम है। फिर भीतर से वह कच्चा माल पक्का बनकर आता है। जो कर्म जाता है वह फिर विपाक होकर आता है। भीतरी स्राव, जो रसायन बनकर आता है, उसे लेश्या फिर अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अंतःस्रावी ग्रंथियों तक पहुंचा देती है। इसलिए यदि हमारे स्थूल शरीर में लेश्या के प्रतिनिधि संस्थानों को खोजें तो जितनी अंतःस्रावी ग्रंथियां हैं, ये सारी लेश्या की प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, बिक्री संस्थान हैं। उनके 'सेल्स मैनेजर' वहां बैठे हैं। अच्छे ढंग से उनके माल की सप्लाई कर रहे हैं।

अंतःस्रावी ग्रंथियों के जो स्राव हैं, कर्मों के वे स्राव भीतर से आते हैं—लेश्या के द्वारा और यहां आकर वे सारे बाहरी व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। सारा बाहरी व्यक्तित्व उससे बदल जाता है। जो भी माल आता है, वह रंगीन आता है। भीतर जाता है, वह भी रंगीन जाता है। बाहर आता है, वह भी रंगीन आता है। कषाय शब्द का चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कषाय का अर्थ होता है—रंगा हुआ। लाल रंग से रंगा हुआ या केवल रंगा हुआ। इसीलिए रंगे हुए कपड़े को काषायिक कपड़ा कहा जाता है।

भीतर में रंग का बड़ा संस्थान है—कषाय का तंत्र। वहां जो-कुछ भी जाता है, वह रंगीन होकर ही जाता है। वहां बिना रंग की कोई वस्तु नहीं है। वहां जो-कुछ है वह सारा रंगा हुआ है। सारा संस्थान रंग-ही-रंग का है। वहां से जो-कुछ भी आता है, वह रंगकर आता है। जितने कर्म के परमाणु हैं, वे सारे-के-सारे रंग के परमाणु हैं।

एक आदमी हिंसा का विचार करता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। एक आदमी असत्य बोलता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। गंदले काले रंग के परमाणु। एक आदमी क्रोध करता है तो मलिन लाल रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं।

रंग दो प्रकार के होते हैं। एक—प्रकाशमान रंग और दूसरा है—गंदला रंग। एक आदमी माया का व्यवहार करता है तो गंदले नीले रंग के परमाणु आकर्षित करता है। जो आदमी बुरे कार्य करता है, अठारह पाप-स्थानों का सेवन करता है, उनका आचरण करता है तो—गंदा काला, गंदा नीला, गंदा लाल, गंदा पीला, गंदा सफेद—पांचों गंदे रंगों के परमाणु आकर्षित होते हैं और वे भीतर के कषाय-तंत्र तक पहुंच जाते हैं। उनको पहुंचाने वाली है—लेश्या। संपर्क-सूत्र का सारा कार्य लेश्या के हाथ में है। फिर वहां से पक-पकाकर जब विपाक होता है, पूरी तरह से रंग कर जब वे बाहर आते हैं, तब लेश्या उन्हें संभालती है और उन्हें बाहर तक पहुंचा देती है, विपाक तक पहुंचा देती है। वे विपाक हमारी भिन्न-भिन्न अंतःस्रावी ग्रंथियों में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं और प्रतिक्रियाएं प्रकट करते हैं। रंग का यह सबसे बड़ा संस्थान है—लेश्या-तंत्र।

हमारा सारा जीवन-तंत्र रंगों के आधार पर चलता है। आज के मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अंतर-मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है—रंग। रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह बहुत बड़ी सचाई है। हम सबसे ज्यादा रंग से प्रभावित होते हैं। रस का भी प्रभाव होता है, गंध और स्पर्श का भी प्रभाव होता है, किंतु रंग जितना प्रभाव डालता है, उतना कोई नहीं डालता। हम सब रंगों से प्रभावित होते हैं। हमारे जीवन का संबंध रंग से है। हमारी मृत्यु का संबंध रंग से है। हमारे पुनर्जन्म का संबंध रंग से है। हमारे भावों-विचारों का संबंध रंग से है। जिस प्रकार के रंग हम ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे भाव बन जाते हैं। जब हम हिंसा का विचार करते हैं, तब काले रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं और हमारी आत्मा के परिणाम भी काले रंग के अनुरूप बन जाते हैं। जैसा सान्निध्य मिलता है, वैसा बन जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वह वैसा ही दीखने लग जाता है। स्फटिक का अपना रंग नहीं होता। उसके सामने काला रंग आता है तो वह काला, पीला रंग आता है तो वह पीला, लाल रंग आता है तो वह लाल और नीला रंग आता है तो वह नीला बन जाता है।

आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं—आत्मा का परिणाम उस रंग में बदल जाता है। हमारी भाव-लेश्या वैसी ही हो

जाती है। यह संस्थान हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि से संबद्ध संस्थान है। इसलिए इस विषय पर हमें बहुत विस्तार से चर्चा करनी होगी।

एक व्यक्ति मरता है। वह अगले जन्म में पैदा होता है। पूछा गया कि वह अगले जन्म में क्या होगा? कैसा होगा? उत्तर मिला—जिस लेश्या में मरेगा, उसी लेश्या में उत्पन्न होगा। जिस रंग में मरेगा, उसी रंग में पैदा होगा।

ज्ञान और ध्यान के साथ, कर्म और जीवन के साथ, मृत्यु और पुनर्जन्म के साथ—सबके साथ रंगों का संबंध है। स्थूल व्यक्तित्व का ऐसा कौन-सा विषय है, जिसके साथ रंग का संबंध न हो। यह अंगुली हिलती है। इसका भी अपना रंग है। एक अंगुली का नाम है—तर्जनी। इसका काम है तर्जना देना। इसे ही तर्जनी क्यों कहा गया? दूसरी अंगुली को तर्जनी क्यों नहीं कहा गया? इसे तर्जनी इसलिए कहा गया कि इसका रंग तर्जना देने वाला है। हमारी अंगुलियों का, हमारे घुटने और एड़ी का, हमारे पैर तक के भाग का रंग, हमारे कटि तक के भाग का रंग और शरीर के ऊपरी भाग का रंग अलग-अलग है। सारा रंग ही रंग है। जो भी हम खाते हैं, वह आहार-पर्याप्ति के कोष में जाता है। आहार-पर्याप्ति की वे कोशिकाएं सबसे पहले उन परमाणुओं को रंग और रूप में बदलती हैं। उनको रंग देती हैं। हमारा सारा विचार रंग से संबद्ध है। हमारा चिंतन, स्मृति रंग से संबद्ध है। सारे व्यक्तित्व को लेश्या—रंग प्रभावित किए हुए हैं। इसलिए इस विषय पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

पांचवां संस्थान है—योग का, प्रवृत्ति का। यह भी व्यक्तित्व के पहचान का एक लक्षण है। योग का अर्थ है—चंचलता। प्रश्न हो सकता है कि यह जीव का लक्षण कैसे बन सकता है? चंचलता परमाणु में भी होती है। इसका उत्तर है कि जीव में स्वेच्छाकृत चंचलता होती है, परमाणु में स्वेच्छाकृत चंचलता नहीं होती। प्राणी का लक्षण केवल गति नहीं है, किंतु स्वेच्छाकृत गति है। गति अचेतन में भी होती है। दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें गति न हो। पुद्गल और जीव—दोनों में गति है। पुद्गल में स्वेच्छाकृत गति नहीं होती, जीव में स्वेच्छाकृत गति होती है। इसलिए योग भी जीव का एक लक्षण है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपयोग और वेद—ये पांचों ही जीव के लक्षण हैं। जिसमें ज्ञान होता है, वह जीव और जिसमें ज्ञान नहीं होता, वह अजीव। जिसमें देखने की शक्ति होती है, वह जीव और जिसमें देखने की शक्ति नहीं होती, वह अजीव। जिसमें अनियत आचरण की क्षमता होती है—वह जीव और जिसमें यह क्षमता नहीं होती—वह अजीव। जिसमें उपयोग की शक्ति—चाहे तो जानना और न चाहे तो न जानना—होती है, वह जीव और बाकी अजीव। जिसमें दूसरे प्राणी को उत्पन्न करने या जन्म देने की क्षमता होती है—वह जीव और जिसमें यह क्षमता नहीं होती—वह अजीव।

ये दस ऐसे संस्थान हैं जो हमारे सूक्ष्म व्यक्तित्व और स्थूल व्यक्तित्व के बीच में बैठे हैं और सूक्ष्म शरीर से आने वाले अनुदान को उपलब्ध कर, उसे स्थूल बनाकर स्थूल व्यक्तित्व में संप्रेषित करते हैं और स्थूल व्यक्तित्व को एक जीव होने का गौरव प्रदान करते हैं। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं! जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

लोग कहते हैं कि रोज नया ज्ञान पैदा हो रहा है, रोज नए शास्त्र लिखे जा रहे हैं, रोज नई सूचनाएं आ रही हैं, लेकिन व्यक्ति में कोई प्रकाश नहीं आ रहा है। जरूर कहीं भूल हो रही है। जिसे ज्ञान समझा जा रहा है, वह ज्ञान नहीं—मात्र सूचनाएं हैं। जो व्यक्ति जानकर, अपने अनुभव से कह रहा है—वह कहने वाले के लिए ज्ञान हो सकता है, परंतु सुनने वाले के लिए वह मात्र सूचना है। महावीर यह भी कहते हैं कि जिससे जीव राग-विमुख होता है, श्रेय में अनुसरण होता है और जिससे मैत्री-भाव बढ़ता है—वही ज्ञान है। यदि बहुत जान लिया और यह जानना व्यक्ति को राग से विमुक्त न कर सका, तो वह जाना हुआ उधार है। ज्ञान उसे ही कहा जाना चाहिए जो व्यक्ति को बदले, मात्र वाणी का विलास न हो।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

✍ चतरसिंह मेहता

भारतीय चिंतना में विद्या वही है जिससे मुक्ति का एहसास हो अर्थात् भौतिक, दैहिक, आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक समस्याओं से मुक्ति मिले—'सा विद्या या विमुक्तये'। ज्ञान की परिभाषा ही यही है कि जो मुक्त करे, वही ज्ञान है, वही विद्या है। जिस विद्या, ज्ञान से मुक्ति का आनंद प्राप्त न हो, उसे अविद्या, अज्ञान ही कहा जाना चाहिए। विद्यालयों व विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ रही है। उनका दावा है कि वे ज्ञान के स्रोत हैं और ज्ञान में वृद्धि कर रहे हैं। पर आज मनुष्य मुक्त होता दिखाई नहीं पड़ता है, उल्टा उस ज्ञान से और जकड़ता जा रहा है, दुखी होता जा रहा है, नीचे गिरता जा रहा है। एक तरफ सूचनाएं व जानकारियां बढ़ती जा रही हैं, जिसे हम ज्ञान कहते हैं और दूसरी ओर मनुष्यता घटती जा रही है। विशृंखलता बढ़ रही है। समाज जुड़ने के स्थान पर बंटता जा रहा है। एक ओर बुद्धि विकसित हो रही है, दूसरी ओर मनुष्य के हृदय का भाव और आत्मा टूटती हुई मालूम पड़ती है।

प्रत्येक व्यक्ति ने जन्म ही ईश्वरप्रदत्त दिव्यता के साथ लिया है, नैसर्गिक ज्ञान से वह परिपूर्ण है, पर इसका एहसास अधिकांशतः समाप्त हो गया है। अज्ञान के कारण ही दुखों में वृद्धि हो रही है, व्यक्ति मुक्त नहीं हो पा रहा है।

आग धुएं से ढकी

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। अर्थात् जैसे धुएं से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है (तथा) जैसे स्निग्ध झिल्ली से गर्भ ढंका हुआ है वैसे ही उस काम के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। ज्ञान ऐसा नहीं है कि आज हमारे पास नहीं है और कल हम उसे पा लेंगे। अध्यात्म यह मानता है कि जो हमारे पास है, केवल उसे ही हम पा सकते हैं। बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, लोगों ने उनसे पूछा कि आपको क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा—यह मत पूछो कि क्या मिला, पूछो कि मैंने क्या खोया। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। बुद्ध ने कहा—वही पाया जो मुझे मिला हुआ ही था और सिर्फ वही खोया जो मेरे पास था ही नहीं, लेकिन मुझे एहसास होता था कि मेरे पास है। जो नहीं था, उसे खो दिया और जो था, उसे पा लिया है। इसे यों भी समझा जा सकता है कि यदि आग धुएं से ढंकी हो और धुआं अलग हो जाए तो आग प्रकट हो जाती है। जैसे सूरज बदलियों में छिपा हो और बदलियां दूर हो जाएं तो सूरज प्रकट हो जाता है—उसे लाना नहीं पड़ता। जैसे वृक्ष बीज में ढंका है, आज अप्रकट है, कल प्रकट हो सकता है। ऐसे ही ज्ञान अप्रकट है, कल प्रकट हो सकता है। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि अज्ञानी भी उतने ही ज्ञान से भरा है जितना कि परमज्ञानी। उसके पास भी आग है, पर धुआं ज्यादा है। अज्ञानी के पास काली बदलियां ज्यादा हैं जो सूरज के प्रकाश में बाधक है। यहां अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। श्रीकृष्ण के कथन

का अर्थ अज्ञान से ज्ञान का ढंका होना है। वे कहते हैं कि धुआं आग को घेरता है, वैसे ही वासना मन को घेरे हुए है।

वासना ही अज्ञान है। इस अज्ञान में दौड़ा हुआ चित्त आत्मा को अर्थात् ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सकता। वरना ज्ञान तो मनुष्य का स्वभाव है जैसे कि आनंद मनुष्य का स्वभाव है। यदि ऐसा न हो तो इसके जो विपरीत है, अज्ञान या दुख—वह हमें पता ही कैसे चले? ज्ञान भीतर मौजूद है। जरूरत है—भीतर झांकने की व वासना के धुएं को हटाने की। ज्ञान की आग स्वतः ही प्रकट हो जाएगी।

स्व का ज्ञान

बर्ट्रेंड रसल ने ज्ञान के दो भाग किए हैं—नॉलेज व एक्वीटेंस—ज्ञान और परिचय। जानना तो केवल उसका हो सकता है जिसके भीतर हम प्रवेश कर सकें। भीतर प्रवेश केवल स्वयं में ही कर सकते हैं, किसी और में नहीं। अतः ज्ञान तो केवल स्व का ही हो सकता है। बाकी किसी के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते, अतः बाहर-बाहर से ही जान सकते हैं, इस कारण वह परिचय है। दूसरे का परिचय होता है और अपना ज्ञान। पर विडंबना यह है कि हम दूसरे का ज्ञान ले लेते हैं और अपना परिचय। यह अज्ञान की स्थिति है। स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि 'कोई ज्ञान बाहर से नहीं आता, सारा ज्ञान भीतर है। हम कहते हैं कि व्यक्ति जानता है, परंतु मनोवैज्ञानिक भाषा में यह कहना चाहिए कि वह खोजता है, उघाड़ता है। आत्मा अनंत ज्ञान का स्रोत है, वहां से वह सीखता नहीं—खोजता है।'

ज्ञान तो सिर्फ एक है—स्वयं का ज्ञान, बाकी सब सूचनाएं हैं। जो व्यक्ति दूसरे की पहचान का प्रयत्न करता है—अपने को बिना जाने, वह गलत यात्रा पर है, वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता। महावीर ने कहा—जाना जिसने स्वयं को, जाना उसने सब को। स्वयं को जाना तो सर्वज्ञ हुआ। यदि स्व का ज्ञान नहीं हुआ और उसके पास जगत् का ज्ञान आ गया तो खतरा ही है। परिणाम नागासाकी और हिरोशिमा जैसा हो सकता है। अज्ञानी के हाथ में शक्ति का आना विनाशक ही होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो स्वयं को जान ले, वही आत्मा को उपलब्ध होता है। जब तक स्व का ज्ञान न हो तब तक यह कहना कि भीतर आत्मा है—सही नहीं है। आत्मा हो तो भी स्वज्ञान के बिना वह उपलब्ध नहीं होती। अतः आत्मा का अर्थात् स्व का ज्ञान करना ही असली ज्ञान है, बाकी सब ज्ञान का धोखा।

व्यक्ति में बदलाव

महावीर ने कहा है—जेण तच्चं विवुज्झेज्ज, जेण चितं णिकज्जदि। जेण अता विसुज्झेज्ज तं जाणं जिणसासणे॥'—जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे सत्य का बोध हो—उसे ही जिन्होंने जाना, उन्होंने उसे ही ज्ञान कहा है। शास्त्रों से जो ज्ञान मिल जाए, वह काम का नहीं। वह तो ऊपर-ऊपर होता है जिससे बदलाव नहीं आता। महावीर शास्त्र-ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। जो विद्यापीठ में मिल जाता है, वह ज्ञान नहीं है। जो आत्मपीठ में मिले, वही ज्ञान होता है। जो बाहर मिल जाता है, वह ज्ञान नहीं है—वह तो सूचना मात्र है। जो भीतर जगता है—वही ज्ञान होता है।

लोग कहते हैं कि रोज नया ज्ञान पैदा हो रहा है, रोज नए शास्त्र लिखे जा रहे हैं, रोज नई सूचनाएं आ रही हैं, लेकिन व्यक्ति में कोई प्रकाश नहीं आ रहा है। जरूर कहीं भूल हो रही है। जिसे ज्ञान समझा जा रहा है, वह ज्ञान नहीं—मात्र सूचनाएं हैं। जो व्यक्ति जानकर, अपने अनुभव से कह रहा है—वह कहने वाले के लिए ज्ञान हो सकता है, परंतु सुनने वाले के लिए वह मात्र सूचना है। महावीर यह भी कहते हैं कि जिससे जीव राग-विमुख होता है, श्रेय में अनुसरण होता है और जिससे मैत्री-भाव बढ़ता है—वही ज्ञान है। यदि बहुत जान लिया और यह जानना व्यक्ति को राग से विमुक्त न कर सका, तो वह जाना हुआ उधार है। ज्ञान उसे ही कहा जाना चाहिए जो व्यक्ति को बदले, मात्र वाणी का विलास न हो।

भक्त का भाव

श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥' —हे अर्जुन। तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को रहस्यसहित कहूंगा जिसे जानकर तू दुखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा। ज्ञान हो जाए तो दुख से मुक्त हुआ जा सकता है पर मूल बात यह है कि ज्ञान प्राप्त कैसे हो? ज्ञान उसी को हो सकता है जो दोषदृष्टिरहित हो और भक्त का भाव रखता हो। यदि दृष्टि दोष से भरी हो तो जगत् में कुछ भी श्रेष्ठ नहीं दिखेगा। सब तरफ उदासी दिखेगी, मुस्कराहट नजर नहीं आएगी। भक्त की दृष्टि नकारात्मक नहीं होती, सकारात्मक होती है। वह जीवन को विधायकता में देखता है।

भक्त शब्द विभक्त का विपरीत है। वह जोड़ता है,

तोड़ता नहीं। वह विश्लेषण नहीं करता, वस्तु को समग्र रूप से देखता है। भक्त बुद्धि से नहीं चलता, हृदय से चलता है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान की बात वही समझ सकता है जो सकारात्मक है और भक्त का भाव लिए हुए है। बेकन ने कहा—'नॉलेज इज पावर'—ज्ञान शक्ति है और शक्ति यदि गलत हाथों में पड़ जाए तो खतरा ही होता है। पर यदि उसमें भक्त का भाव है तो भीतर गलत करने वाली बुद्धि समाप्त हो जाती है। रहस्य की बात भक्त के भाव बिना उसे कही जाए तो सुनने वाला उसे सुन तो लेगा, परंतु जानना नहीं होगा, बात हृदय में नहीं उतरेगी।

महावीर के पास एक युवक आया। वह जानना चाहता था कि सत्य क्या है। महावीर ने कहा—कुछ दिन मेरे पास रुक और इसके पहले कि मैं तुझसे कुछ कहूं, तेरा मुझ से जुड़ जाना जरूरी है। तू अपने प्रश्न को भूल और अपने को भी, और मुझ से जुड़ने की कोशिश कर। जिस दिन तू जुड़ जाएगा, तुझे पूछना नहीं पड़ेगा—मैं तुझ से कह दूंगा। अनेक वर्ष बीत गए। वह व्यक्ति रूपांतरित हो गया। एक दिन महावीर ने उससे पूछा कि तूने सत्य के संबंध में पूछना अनेक वर्षों से छोड़ दिया? उस युवक ने कहा—पूछने की जरूरत ही नहीं रही। जब से मैं जुड़ गया, तो मैंने सुन लिया। महावीर ने अपने शिष्यों से कहा कि एक समय था—तब यह पूछता था और मैं कह नहीं पाया था और अब ऐसा वक्त आया है कि मैंने इसे कहा नहीं है और इसने सुन लिया है। यह है जुड़ना और भक्त का भाव। जानना तभी संभव है।

जानने का अर्थ

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि इस परम गोपनीय ज्ञान को रहस्य के साथ कहूंगा, जिसे जानकर तू दुखरूप संसार से मुक्त हो जाएगा। जानना और सुनना अलग-अलग हैं। सुनना जानना नहीं है। सभी कहते हैं कि सच बोलना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, फिर भी झूठ बोलते हैं। सभी कहते हैं कि क्रोध नहीं करना चाहिए, फिर भी क्रोध करते हैं। सुन लिया है, पढ़ लिया है—इसलिए कहते हैं, पर जाना यह है कि झूठ बोलने से लाभ है, क्रोध ठीक है। जानना झूठ और क्रोध के पक्ष में है। श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि हे अर्जुन! इस ज्ञान को सुनकर तू मुक्त हो जाएगा। सारा बल उन्होंने जानने पर दिया।

यदि ज्ञान इतना सस्ता होता कि वह सुनने से ही मिल जाता तो विश्व में अज्ञान व दुख रहता ही नहीं। ऐसा भी नहीं है कि किसी ने पढ़ लिया, वह स्मृति में चला गया और कोई ज्ञानी हो गया। स्मृति ज्ञान नहीं है। पर आज स्कूल, विश्वविद्यालय और प्रतियोगिता आयोजित करने वाले अभिकरण सभी मानते हैं कि स्मृति ही ज्ञान है। उसी को अधिक अंक मिलते हैं—जिसकी स्मृति बहुत है।

जानने का अर्थ स्मृति नहीं है। एक कथा है—कौरव व पांडव गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन करते थे। एक दिन गुरु ने सभी को एक पाठ याद करने को दिया—'सदा सत्य बोलो और किसी की बुराई मत करो'। लगभग सभी ने इसे याद कर फौरन गुरु को सुना दिया, पर युधिष्ठिर ने इसे याद कर नहीं सुनाया। तब गुरु ने युधिष्ठिर से कहा—इतना छोटा-सा पाठ अभी तक याद नहीं हुआ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—कंठस्थ कर सुनाना तो आसान था, पर जब तक यह वाक्य व्यवहार में न उतरे, भीतर से जानना न बन जाए—तब तक याद करना नहीं हुआ। जिस दिन मैं ऐसा करने लगूंगा—उस दिन आपको सुना दूंगा, जीवन में उतारने का प्रयत्न कर रहा हूं।' यह है कंठस्थ कर स्मृति में लेने और जानने का अंतर। श्रीकृष्ण भी ज्ञान उसी को कहते हैं जो जान लिया जाए, व्यवहार में उतरे। तभी वह ज्ञान मुक्ति का आधार बन सकता है, दुखों को दूर कर सकता है।

वृथा ज्ञान

ज्ञान वही सार्थक है जिससे जीवन में रूपांतरण हो। ओशो ने कहा है कि ज्ञान का अर्थ ही है—जो क्रांति बन जाए। जानकर भी नहीं बदले और वही रह जाएं जैसे पहले अनजाने में थे तो इस ज्ञान में और अज्ञान में कोई अंतर नहीं है। गीता पूरी पढ़ जाएं और वैसे के वैसे व्यक्ति रहें जैसे गीता पढ़ने से पहले थे, तो जो भी पढ़ने में समय दिया, मेहनत की—वह सब व्यर्थ गई, कहीं कोई अंतर नहीं आया। ज्ञान वही है जिसने कभी व्यक्ति को छुआ हो, वह वही नहीं रहे, जो पहले था। यदि कुछ भी बदलाव नहीं दिखाई पड़े, तो ऐसे ज्ञान को श्रीकृष्ण ने वृथा ज्ञान कहा है।

हीरा गहरे में

ज्ञान विस्तार से नहीं आता, गहराई से आता है। ज्ञान में एक ही बिंदु पर गहराई में उतरना पड़ता है। विस्तार में तो एक बिंदु के पास अनेक बिंदुओं पर विचार करना पड़ता है। परिचय प्राप्त करना हो तो विस्तार में जाना पड़ता है, पर यदि ज्ञान प्राप्त करना हो तो गहराई में उतरना पड़ता है। समुद्र से यदि हीरे प्राप्त करने हों तो गहरी डुबकी लगानी

पड़ती है और समुद्र का लंबा फैलाव ही देखना हो तो पानी की सतह पर ही हाथ मार लें।

सुकरात ने मरने से पहले कहा था कि जब मैं बच्चा था तो मैं समझता था कि मैं सब-कुछ जानता हूं। जब जवान हुआ तो मैंने समझा कि बहुत-कुछ है, जो मैं नहीं जानता। और जब मैं बूढ़ा हो गया हूं तो स्पष्टतः कह सकता हूं कि मैं कुछ भी नहीं जानता। यदि कोई यह कहता है कि वह सब-कुछ जानता है, तो समझना चाहिए कि उसकी मानसिक उम्र बच्चे के समान ही है। अमेरिका में सेना में भरती होने वाले लाखों लोगों की मानसिक आयु की जांच की गई तो पता चला कि उनकी औसत मानसिक आयु तेरह साल से ज्यादा नहीं है। उम्र तो ज्यादा हो जाती है, पर बुद्धि की क्षमता तेरह साल की ही होती है। तथ्यों का विस्तार तो उम्र के साथ ज्यादा हो जाता है, पर इस विस्तार से कोई ज्ञान को उपलब्ध नहीं होता, चाहे स्मृति बड़ी हो गई हो। कबीर, मुहम्मद, ईसा, नानक पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उन्होंने गहरे में डुबकी लगाई थी। ज्ञान विस्तार से नहीं, गहराई से आता है। गहरा जानने के लिए स्वयं गहरा होना पड़ता है।

तत्त्वज्ञान

श्रीकृष्ण ने गीता में विभूतियोग में कहा है कि ज्ञानवानों का तत्त्वज्ञान मैं हूं। भारत में हमेशा जोर तत्त्वज्ञान पर रहा है, चिंतना और विचारणा पर नहीं, क्योंकि कोई कितना ही विचार करे, सोचे—कहीं पहुंचता नहीं। इससे तो शब्दों का संग्रह बढ़ता है। सोचना सहयोगी हो सकता है, परंतु सोचना अनुभव नहीं बनता। तत्त्वज्ञान से अर्थ, शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। रूस में आस्पेन्सकी एक बहुत बड़ा विचारक, गणितज्ञ हुआ। वह एक संत गुरजिएफ के पास गया और कहा कि मैं आपसे कुछ पूछने आया हूं। गुरजिएफ ने उसे एक कागज दिया और कहा कि जो तुम जानते हो, वह इस पर लिख दो और जो तुम नहीं जानते—वह फिर मुझ से पूछना। जो तुम पहले से जानते हो उस पर चर्चा करने के झंझट में क्यों पड़ें? ओस्पेन्सकी ने विश्वप्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी—'टर्शियम ओरगनम'—अर्थात् तीसरा सिद्धांत। ओस्पेन्सकी लिखने बैठा, पर उसका हाथ चला ही नहीं। लिखने की कोशिश करता तो भीतर से खबर आती कि यह मैं जानता कहां हूं। पढ़ा है, सुना है, बुद्धि को पता है, पर मुझे कहां पता है? ईश्वर, आत्मा, ध्यान आदि का मेरा कोई अनुभव नहीं। उसने कोरा कागज लाकर गुरजिएफ को दे दिया। उसने कहा—क्षमा करना, मुझे कुछ भी पता नहीं है। गुरजिएफ ने कहा—अभी तक तू ज्ञानी था, अब तत्त्वज्ञानी हो सकता है। जब ज्ञानी को पता चलता है कि मैं ज्ञानी नहीं हूं, तब तत्त्वज्ञान की यात्रा शुरू होती है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है—अज्ञानी तो भटकते ही हैं—अंधकार में, ज्ञानी महाअंधकार में भटक जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति सोया हुआ हो, तो उसे जगाया जा सकता है, पर झूठी नींद को तोड़ना मुश्किल होता है। अज्ञानी तत्त्वज्ञान की ओर जा सकता है, परंतु ज्ञानी को ले जाना कठिन होता है, क्योंकि वह कहता है—मैं जानता ही हूं। इसीलिए तो उपनिषद् में बहुत ही क्रांतिकारी वचन कहे हैं। श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि ज्ञानियों की जानकारी मैं हूं। वे कहते हैं कि ज्ञानियों का तत्त्वज्ञान, निजी अनुभव, अनुभूति मैं हूं। अर्थात् निजी अनुभव ही परमात्मा तक पहुंचाता है, परमात्मा बन जाता है।

ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा

एक राज्य की राजकुमारी की संगीत में रुचि थी और वह वीणा बजाना सीखना चाहती थी। राजा ने अपने दरबारियों से किसी वीणा विशेषज्ञ के बारे में जानकारी चाही तो उन्होंने पास के राज्य के राजकुमार उदयन का नाम सुझाया। राजकुमार उदयन बहुत सुंदर, विनम्र, चतुर और वीणा के कुशल जानकार थे। राजा ने उन्हें निमंत्रण दिया। राजा यह चाहते थे कि राजकुमारी उनसे वीणा की शिक्षा तो प्राप्त करे, पर उनसे मिले नहीं। राजा को डर था कि यदि वे मिले तो आपस में प्रेम न हो जाए। अतः उसने दोनों के बैठने के स्थान के बीच में पर्दा लगा दिया। राजा ने उदयन को कहा कि राजकुमारी अंधी है, अतः वह सामने बैठकर सीखना नहीं चाहती। राजा ने राजकुमारी को भी कह दिया कि उदयन कोढ़ग्रस्त है, अतः वह शर्म के मारे तुम्हारे सामने नहीं आना चाहता—इसलिए पर्दा लगाया गया है। दोनों को ये बातें सुनकर यद्यपि दुख हुआ, पर उन्होंने अपने पाठ लगन से जारी रखे। कार्य इस प्रकार सुचारु रूप से चलता रहा। राजा भी बीच-बीच में आकर देखता रहा।

एक बार ऐसा हुआ कि उदयन ने पाठ सीखने को दिया, वह राजकुमारी को याद नहीं हुआ। कई दिनों तक उस पाठ की स्थिति ऐसी ही रही, तो उदयन को अंत में कुछ क्रोध आ गया और उसने राजकुमारी को कह ही दिया कि कितनी बार बता दिया व तुमने ध्यान नहीं दिया—अंधी जो हो। राजकुमारी को भी यह सुनकर बहुत क्रोध आ गया

और उसने उदयन से कह ही दिया कि तुम रोगी हो, कोढ़ग्रस्त जो हो—ध्यान से बोलो। उदयन ने सोचा, यह कोढ़ी किसको कह रही है? राजकुमारी ने सोचा, उदयन ने उसे अंधी क्यों कहा? दोनों ने यह जानने के लिए पर्दा हटा दिया तो उन्हें सचाई ज्ञात हो गई।

इस कहानी को उद्धृत करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—न तो राजकुमारी अंधी थी और न राजकुमार उदयन कोढ़ी। हम वास्तविकता जाने बिना ही निर्णय ले लेते हैं। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहता है और यह सचाई से साक्षात्कार नहीं होने देता। अज्ञान के कारण ही दृष्टि बाधित हो जाती है और एकांगी दृष्टि फिर दुखों का कारण बन जाती है।

ज्ञान से मुक्ति

ज्ञान ही मुक्ति है। अज्ञान के कारण ही दुख है। जो इसे जान लेता है, वह दुख के बाहर हो जाता है। दुनिया में दो तरह की धर्म-परंपराएं हैं। एक यहूदी धर्म-परंपरा और दूसरी हिंदू धर्म-परंपरा। यहूदी धर्म-परंपरा से निकली जितनी शाखाएं है—जैसे इस्लाम, ईसाइयत आदि—सभी पाप को दुख का मूल कारण मानते हैं। भारत में जो धर्म पैदा हुए हैं—जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख—वे सभी धर्म अज्ञान को, बेहोशी को दुख का मूल कारण मानते हैं। भारत कहता है कि पाप भी तभी होते हैं, जब अज्ञान हो। पाप मूल नहीं है—मूल है अज्ञान। व्यक्ति इसीलिए गलत करता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन, तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'—हे जनार्दन! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? श्रीकृष्ण ने कहा—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'।।—अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है और ज्ञान को उपलब्ध हुआ आत्मा में प्रवेश कर जाता है। यदि यह ज्ञात हो जाए कि ज्ञान क्या है व अज्ञान क्या है, तो कोई भी व्यक्ति जानकर गलत कर ही नहीं सकता। पर जरूरत जानने की है कि ज्ञान सबके भीतर मौजूद है। सूचनाएं ज्ञान नहीं है, स्व का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ज्ञान वही है जो जीवन में बदलाव लाए। सुनना या स्मृति में रख लेना ज्ञान नहीं है। ज्ञान गहराई में है और अनुभव में आने पर ही ज्ञान है। यदि ऐसा होता है, ज्ञान की ओर चरण बढ़ते हैं तो जीवन में सरलता, ऋजुता आ सकती है व दुखों से मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

अर्थशास्त्र के वर्तमान परिदृश्य में नैतिकता का पक्ष गौण ही रहा है। अर्थशास्त्रियों का अभिमत रहा है कि यदि व्यक्तिगत वस्तुओं के चुनाव आंशिक रूप से उनके नैतिक मूल्यों से निश्चित हुए मान लिए जाएं तो मांग के विश्लेषण में, जो इन्हीं अभिव्यक्त वरीयताओं के अनुरूप ही है, दुबारा नैतिक मूल्यांकन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर आर्थिक क्रियाएं परिणामतः सादाचारिक हों—यह आवश्यक न हो तो मानवीय संप्रेरणाओं से प्रभावित वैयक्तिक और सामुदायिक प्राथमिकताएं एक-दूसरे का प्रतिबिंब होकर नहीं रहेंगी।

महावीर का अर्थशास्त्र : मानवीय संप्रेरणाएं

✍ माणकचंद सिंघी

अर्थशास्त्र का सार्वकालिक उद्देश्य एक ऐसी संगठित सामुदायिक पद्धति की रचना करना है जो दो मुख्य अपेक्षाओं पर खरी उतर सके। पहली तो यह कि—समुदाय के सीमित संसाधनों का सर्वाधिक सक्षमतापूर्वक उपयोग सुनिश्चित हो। दूसरे—उपभोग की वस्तुओं और सेवाओं से समुदाय की इच्छाओं की सर्वाधिक संतुष्टि हो। इस सामुदायिक पद्धति की संरचना में मुख्य कठिनाई यह है कि समुदाय 'एक एकल इकाई' नहीं है। यह असंख्य व्यक्तियों का समूह है। इन सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी आकांक्षाएं तो हैं ही, वे इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अपने-अपने निजी कार्यक्रम तय करने के लिए भी काफी हद तक स्वतंत्र हैं। समुदाय 'एक एकल इकाई' के रूप में संसाधनों का उचित बंटवारा और उपयोग तभी तय कर सकता है, जब भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत आकांक्षाएं सामुदायिक वरीयताओं को भी सही-सही प्रतिबिंबित करें।

> *धार्मिक अंध-विश्वासों और कर्मकांडों से भरे महावीर के काल में विकास की अवधारणा क्या हो सकती है—जैन भारती के सुधी पाठकों ने पिछले अंक में ये विचार पढ़े। मान्य लेखक ने पिछले आलेख में महावीर के दर्शन को व्यक्तिगत स्वतंत्रता और संप्रेरणाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला बताया, वहीं यह भी स्थापित किया कि महावीर के सिद्धांतों में 'विकास की अवधारणा' और आज के निर्बाध विकास में काफी समानताएं हैं। पिछले आलेख में लेखक ने यह भी बताया कि उपभोग के संयम, उत्पादन की प्राथमिकताएं और वर्तमान व भविष्य की पीढ़ियों के समन्वय को इस प्रक्रिया से जोड़ दिया जाए तो विकास की नई अवधारणा सर्वमान्य हो सकती है। इसी क्रम में लेखमाला की इस आखिरी और चौथी कड़ी में लेखक ने महावीर के सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में सामुदायिक संरचना की सार्वकालिकता एवं सर्वमान्यता पर दृष्टिपात किया है। देखें—*

इस सामुदायिक पद्धति की सर्वमान्यता इस बात पर भी निर्भर करती है कि क्या समुदाय के घटकों को इसका विश्वास है कि न केवल उनकी आवश्यकताओं को दी गई वरीयता उनके अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही है, आवश्यकताओं की तुलनात्मक वरीयता भी एक वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष तरीके से की गई है। किंतु प्राथमिकताएं अथवा वरीयताएं तय करने की किसी वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष प्रवृत्ति का होना सर्वमान्यता की एक आवश्यक शर्त ही है। अगर इसके साथ यह आश्वासन न हो कि वास्तविक उत्पादन इन वरीयताओं के आधार पर ही होगा तो ऐसी संरचना अपने-आप में संपूर्ण नहीं कही जाएगी।

समुदाय में जहां असंख्य व्यक्तियों की उपभोक्ताओं के रूप में अपनी प्राथमिकताएं हैं, वहीं यहां असंख्य उत्पादक भी हैं; जो अपने-अपने निर्णय स्वतंत्र रूप से लेते हैं। अगर यह मान भी लिया जाए कि उनकी उत्पादन की प्राथमिकताएं, उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं के ही अनुरूप है—तब भी प्रश्न उठता है

कि क्या असंख्य व्यक्तियों का संसाधनों के स्वामियों के रूप में उपयोग सामुदायिक प्राथमिकता के अनुरूप ही है? उत्पादन की तकनीकी दृष्टि से अनेक पद्धतियां हो सकती हैं और उनमें संसाधनों का सम्मिश्रण भी अलग-अलग हो सकता है। अर्थशास्त्र की किसी पद्धति को अपनी सर्वमान्यता के लिए यह आश्वासन देना भी जरूरी है कि उत्पादन की अपनाई गई तकनीक भी समुदाय के उपलब्ध संसाधनों के अनुसार ही है। साथ ही साथ, इन संसाधनों का उपयोग भी सामुदायिक प्राथमिकता को ध्यान में रखकर ही हो रहा है।

समुदाय व्यक्तियों का कोई असंगठित समूह नहीं है और न ही इसका निर्माण किसी निस्वार्थ प्रेरणा से हुआ है। व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता की तुलना में समुदाय में विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन के अवसर ज्यादा हैं। इसी विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन से विकास की ऊंचाइयों को छुआ जा सकता है। किसी एक अकेले द्वीप पर रॉबिन्सन क्रूसो के बजाय व्यक्ति समुदाय में रहना इसलिए पसंद करता है, क्योंकि उसकी सुरक्षा और उन्नति की इसमें ज्यादा संभावनाएं हैं। किंतु अगर यही विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन रूढ़ बन जाए और इस आधार पर समुदाय को विभक्त कर दे अथवा यह विशिष्टीकरण आर्थिक विकास के समान अवसर उपलब्ध न करवाए तो यह सामुदायिक संरचना सर्वमान्य नहीं हो पाएगी।

आर्थिक संरचना के इन तीन घटकों को कुछ इस तरह भी समझा जा सकता है—

संसाधनों के स्वामी

उत्पादक सेवाओं के लिए बाजार अथवा
अन्य संस्थागत ढांचा, श्रम-विभाजन

उद्यमी

उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए बाजार
अथवा अन्य संस्थागत ढांचा

उपभोक्ता

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बाजार एक ऐसा संस्थागत ढांचा है जो संसाधनों के स्वामी, उद्यमी एवं उपभोक्ता के कार्यकलापों के बीच समन्वय स्थापित करता है। मानवीय संप्रेरणाओं की अभिव्यक्ति के रूप में कार्यशील होने वाली मूल्य पद्धति इस समन्वय का आधार होती है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था में समन्वय का यह कार्य केंद्रीकृत होता है और उसका संचालन केंद्रीय शक्ति द्वारा आदेशित होता है।

व्यक्ति की एक ही समय में अनेक इच्छाएं होती हैं। उसके पास के संसाधन उन सभी इच्छाओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होते। अतः व्यक्ति अपनी इन असंख्य इच्छाओं को एक समान वरीयता नहीं दे सकता। संसाधनों की सीमितता के कारण उसे अपनी असंख्य इच्छाओं में चुनाव करना पड़ता है। यह चुनाव उसके पास के उपलब्ध विकल्पों में से ही हो सकता है। बाजार का सारा सिद्धांत इसी मूलभूत अवधारणा पर निर्भर करता है कि उपलब्ध विकल्पों में से चुने गए विकल्प व्यक्ति की उपभोग की प्राथमिकताएं दर्शाते हैं। छोड़ा गया विकल्प चुने गए किसी भी विकल्प से व्यक्ति के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके चुने हुए विकल्प उसकी अधिकारिता को भी दर्शाते हैं जो उसे संसाधनों के स्वामी और उनके मूल्यों से प्राप्त होती है।

व्यक्ति के पास संसाधनों की उपलब्धता और उनके मूल्य, उनकी अधिकारिताओं में वैषम्य को जन्म देते हैं। इस आर्थिक विषमता के दो कारण हो सकते हैं—वैयक्तिक क्षमता अथवा योग्यताओं का भिन्न-भिन्न होना एवं वंशानुगत। वैयक्तिक क्षमताओं के भिन्न-भिन्न होने से आर्थिक समानता अथवा अधिकारिताओं की समानता का लक्ष्य तो प्राप्त नहीं होता, किंतु वह वैषम्य सहनयोग्य है। वंशानुगत संसाधनों की विषमता अधिकारिताओं को न केवल आरंभ में ही प्रभावित करती हैं, वैयक्तिक क्षमताओं को और भी विषम बना देती है।

अधिकार की भावना, परिग्रह अथवा संग्रह की भावना और स्वामित्व—मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। जैसा कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—'सब-कुछ अधिकार-स्वामित्व की भावना से ही हो रहा है। दूसरी मनोवृत्तियां उसकी उपजीवी हैं।' आचार्य मलयगिरि ने इस अधिकार की भावना को अमरबेल कहा है। अमरबेल प्रारंभ में किसी पेड़ का सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है, फिर समूचे पेड़ पर ही अपना अस्तित्व जमा लेती है। और अंत में पेड़ समाप्त होकर सिर्फ अमरबेल ही शेष रह जाती है। वंशानुगत परिग्रह भी कुछ-कुछ इस अमरबेल की तरह ही है। यह समुदाय के पेड़ पर ही फलती-फूलती है और अंत में सिर्फ स्वयं ही शेष रह जाती है। पूंजी का केंद्रीकरण, अधिकारों और अधिकारिताओं का केंद्रीकरण इसका एक निश्चित परिणाम हो जाता है।

आर्थिक विषमता आर्थिक समन्वय की तीनों प्रक्रियाओं को प्रभावित करती है। व्यक्ति के उपभोग की वस्तुओं की प्राथमिकताएं समुदाय की प्राथमिकताओं के

अनुरूप नहीं रहतीं। संसाधनों के स्वामी के रूप में उनकी अधिकारिताएं एवं संसाधनों के मूल्य (पुरस्कार) भी सामुदायिक प्राथमिकताओं से भिन्न होंगे और वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन, जो संप्रभुतासंपन्न उपभोक्ताओं की उपभोग की प्राथमिकताओं के अनुसार ही तय होता है, समुदाय की आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं होगा। सामुदायिक एवं वैयक्तिक चुनावों की विभिन्नता आर्थिक सिद्धांतों के नैतिक पक्ष को महत्त्व न देने के कारण भी हो सकती है।

अर्थशास्त्र के वर्तमान परिदृश्य में नैतिकता का पक्ष गौण ही रहा है। अर्थशास्त्रियों का अभिमत रहा है कि यदि व्यक्तिगत वस्तुओं के चुनाव आंशिक रूप से उनके नैतिक मूल्यों से निश्चित हुए मान लिए जाएं तो मांग के विश्लेषण में, जो इन्हीं अभिव्यक्त वरीयताओं के अनुरूप ही है, दुबारा नैतिक मूल्यांकन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर आर्थिक क्रियाएं परिणामतः सादाचारिक हों—यह आवश्यक न हो तो मानवीय संप्रेरणाओं से प्रभावित वैयक्तिक और सामुदायिक प्राथमिकताएं एक-दूसरे का प्रतिबिंब होकर नहीं रहेंगी।

वस्तुओं के उत्पादन में व्यक्ति एवं उसके श्रम का सर्वाधिक महत्त्व है। श्रम का मूल्य क्या हो? जो व्यक्ति श्रम करता है, उसके इस श्रम का प्रतिफल क्या हो? यह एक सार्वकालिक प्रश्न है। महावीर के समय से लेकर साम्यवाद और पूंजीवाद के विभिन्न पायदानों में इस पर काफी चिंतन चला है। इस संदर्भ में साम्यवाद का सिद्धांत रहा—योग्यता के अनुरूप कार्य और आवश्यकता के अनुरूप उसका प्रतिफल। किंतु आवश्यकताएं तो सुरसा के मुंह की तरह लचीली हैं, उनका विस्तार असीमित हो सकता है। अगर हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार ही प्रतिफल मिलना तय है तो निष्ठा और प्रतिफल का कोई संबंध ही नहीं रहेगा। अकर्मण्य व्यक्ति भी उतना ही प्रतिफल प्राप्त करेगा, जितना निष्ठा से श्रम करने वाला। और अगर अकर्मण्य की आवश्यकताएं अलग विस्तार पा जाएं तो स्थिति और भी विषम और नैराश्यपूर्ण हो सकती है। इसमें तो संप्रेरणाएं पूरी तरह कुंठित ही हो सकती हैं। साम्यवाद के दर्शन में करुणा जरूर है, किंतु वह वैयक्तिक संप्रेरणाओं को क्रियाशील करने में पूरी तरह सफल नहीं हो सकता।

अपनी अधिकारिताओं में वृद्धि, अपने उपभोग की वस्तुओं की उपलब्धता में वृद्धि और इस वृद्धि का तुलनात्मक रूप में दूसरे व्यक्तियों से ज्यादा होना कार्य की संप्रेरणाएं रहे हैं। आज के अर्थशास्त्री और पहले के चिंतकों को यह मानने में संकोच नहीं रहा है कि अपना स्वार्थ और अपनी समृद्धि सदैव से ही व्यक्ति के लिए आदर्श रहे हैं। ये सार्वकालिक मनोयोग हैं, जिन्हें महावीर ने भी स्वीकार किया है। महावीर ने इन दो संवेगों को नियंत्रित करने के लिए इनमें दो बातें ओर जोड़ दीं—उपार्जन में साधना-शुद्धि एवं उपभोग में संयम।

कीन्ज ने 1936 में कहा था कि आज के समुदाय की दो मुख्य कमियां रही हैं। वे हैं—रोजगार के साधन उपलब्ध करवाना तथा बेरोजगारी को खत्म करना और दूसरी आर्थिक विषमता को ज्यादा असह्य बनने से रोकना। ये बातें आज भी सार्थक हैं। महावीर के दर्शन में आजीविका विच्छेद न करने का निर्देश और उपार्जन में शुद्धि इन दोनों समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है।

हालांकि आर्थिक जगत् में नैतिकता के पुरोधा नहीं थे, किंतु उनका यह कथन कि उत्पादित वस्तुओं की कीमतें उनके न्यूनतम स्तर पर नहीं, वरन् उस स्तर पर तय की जानी चाहिएं जिसमें उनके उत्पादक को अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए आवश्यक अधिकारिताएं प्राप्त हो सकें—वास्तव में एक क्रांतिकारी विचार था जिसकी गूंज अरस्तू एवं चाणक्य की रचनाओं में भी सुनाई देती है। महावीर इस दृष्टि से इस प्रकार की विचारधारा के पहले व्याख्याता रहे हैं।

वैश्वीकरण के आज के दौर में न केवल श्रम के प्रतिफल में विषमता आई है—इससे लाभान्वित होने वाले घटक संसाधनों से संपन्न और तकनीकी दृष्टि से ज्यादा विकसित रहे हैं। उपभोक्ता की संप्रभुता और उनके फायदे की बात करने वाले प्रायः इस बात की अनदेखी कर देते हैं कि वास्तविक जगत् में कोई सिर्फ उपभोक्ता अथवा सिर्फ उत्पादक या संसाधनों का स्वामी नहीं है। उसकी अधिकारिताएं ही उसे उपभोक्ता का दर्जा प्रदान करती हैं। अगर वैश्वीकरण से इनकी अधिकारिताओं में कमी आती है तो उपभोक्ता के रूप में उनके लाभान्वित होने का ज्यादा अर्थ नहीं रह जाता। साथ ही, इन प्रभावों को अलग-अलग करके भी नहीं देखा जा सकता। मुख्य बात यह है कि अगर किसी सामुदायिक संरचना में नियम इस तरह बनाए जाएं या इस तरह परिभाषित किए जाएं कि वे एक घटक या वर्ग-विशेष के लिए अधिक हितकारी हो जाएं तो वह इस सामुदायिक संरचना की सार्वकालिकता एवं सर्वमान्यता को प्रभावित करेगा। महावीर का दर्शन इसमें बिल्कुल अपवाद बनकर उभरता है। ❖

अनुभूति

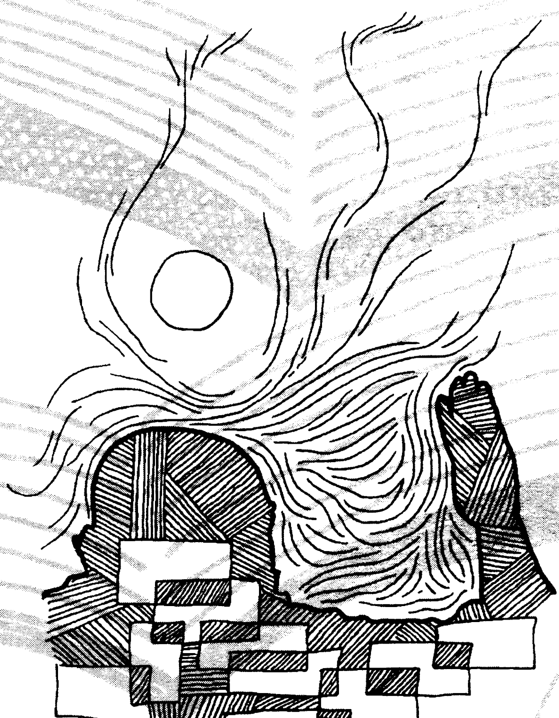

बदलते रंग में फंसा अस्तित्व
एक भूलभुलैया आंखों के अंदर और बाहर
बुनियादी अविश्वास की मसमसी कगार पर लटकता
रंगीनी का भ्रामक सेतु।
धुलता हुआ आकार अगम्य जिजीविषा का
वंचना की आवाज की निर्झर आंधी!

तृष्णा का वीरान आलोक!
पत्ते में पत्ता, मृत्तिका में मृत्तिका।
अनुकूलन का एक आत्मविलोपक अर्थ।
रक्त में फैलता आभास क्षणिक रंगीनता का,
और काली भित्ति पर उभरती बिंबलीला
नियति की चित्रकविता की।
किसी पंखहीन व्यंजना का व्यर्थ विलास उड़ान का
और इस निष्पक्ष गति का समर्थ उपहास आत्मधारणा का।

—चंद्रकांत सेठ

गुजराती से अनुवाद

बोलना कला है, वैसे ही मौन रहना भी कला है। इसलिए कहा भी है—'बोलना रजत है, तो मौन रहना स्वर्ण'। मौन भी वही सार्थक है, जिसके साथ संयम का पुट हो व मौनव्रत के नियमों की अनुपालना हो। जो मौन संयम व विवेक से संपृक्त नहीं होता है, वह कई बार अवहेलना का कारण भी बन जाता है। दूसरों को पीड़ा देने वाला, अहित करने वाला मौन उपादेय नहीं होता।

मुणी मोणं समादाय

✍ मुनि रमेशकुमार

बाह्य जगत से लेकर अभ्यंतर जगत हो अथवा अध्यात्म साधना से लेकर व्यावहारिक जीवन—दोनों ही अवस्थाओं में मौन अत्यधिक उपयोगी है। इसमें विचरण करने से अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति तो होती ही है, उस अनिर्वचनीय आनंद से बाह्य जगत की विस्मृति एवं अंतर्जगत की स्मृति भी होती है। मौन अमृतधारा है, अथच अंतर्धारा है। आत्मिक शक्ति के प्रस्फुटन में वह सहायक है। इस में निमज्जन करने वालों की आत्मा निर्मल, पवित्र और विशुद्ध बनती है। मौन के द्वारा अंतर्जगत की यात्रा में जहां आत्मिक शक्ति प्रस्फुटित होती है, वहीं अनंत शांति और आत्मिक आनंद के सम्राज्य से भी साधक का साक्षात्कार होता है। मौन में किया गया अवगाहन स्नान से मिलने वाली शीतलता व ताजगी के सदृश ही अनुभूति प्रदान करता है। मौन-साधक का संपूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और कृतित्व तब शक्ति व आनंद से परिपूरित हो जाता है।

मौन की महत्ता को जैन दर्शन अनेकविध प्रतिपादित करता रहा है। मन, वचन और काया—जो जैन चिंतन में त्रियोग कहे गए हैं—अंततः मौन से किसी-न-किसी स्तर पर जुड़े हुए हैं। ध्यान से मन, मौन से वाणी और कायोत्सर्ग से काया के स्थैर्य को सुनिश्चित किया जा सकता है। इस दृष्टि से त्रिगुप्ति की साधना में मौन की अनिवार्यता से निषेध नहीं किया जा सकता। मौन अभ्यंतर तप को प्राप्त करता है। तभी तो आर्ष आचार्यों ने 'मौनं सर्वार्थ साधनम्' कहकर मौन को समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला कहा है।

संसारी प्राणी के दो शरीर सदैव साथ रहते हैं—तैजस और कार्मण। एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी ये दोनों शरीर आत्मा के साथ संपृक्त रहते हैं। आत्मा से उन सूक्ष्म शरीरों को अलग करना ही बंधन-मुक्ति है। 'मुणी मोणं समादाय धुणे कम्म सरीरगं' (आयारो 2/61163)—मुनि मौन को स्वीकार कर कर्म-शरीर (कार्मण) को धुन डाले। मुनि का अर्थ है—ज्ञानी और मौन का अर्थ है—ज्ञान अथवा संयम। मौन से कर्म-शरीर प्रकंपित होता है। मुनित्व के भाव के लिए मौन शब्द प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होता रहा है। मुनि से ही मौन शब्द निर्मित हुआ है। शब्द के इस अंतर्निहित अर्थ को हृदयंगम करने के बाद मौन के स्रोत (मुनि) तक सहज ही पहुंचा जा सकता है। यहां प्रासंगिक होगा मौन की जीवन भूमिका का निवर्तन, क्योंकि मनुष्य जीवन की सार्थकता हेतु इस आंतरिक शक्ति से अलग नहीं हुआ जा सकता।

सागर में तरंगें उठती हैं और शांत भी होती रहती हैं। मन को भी सागर की उपमा से उपमित किया गया है। एक होता है शांत मन, दूसरा अशांत मन। आवेग—आवेश, प्रमाद एवं कषाय आदि से मन चंचल बनकर अशांत होता है। इन्हें दूर करने का सशक्त उपाय है मौन। मौन की सतत साधना से अशांत व बेचैन मन को परम शांति मिलती है। जो शांति बोलने से भंग होती है, वही मौन से निरंतर बढ़ती है।

मौन है—वाणी का संयम, अर्थात् वचन-गुप्ति। संयमपूर्वक वाणी का उपयोग भाषा-समिति है। भाषा का अवलंबन लेकर हम एक-दूसरे के विचारों व भावों को समझते हैं और समझाते भी हैं। भाषा का सम्यक् प्रयोग भूषण है, तो मिथ्या प्रयोग दूषण। जागरूकतापूर्वक भाषा

का उपयोग करने वाला कभी भी इसकी अवहेलना नहीं करता व दूषित भी नहीं होने देता। जीवन को कलात्मक रूप से नियोजित करने के लिए वाणी का संयम व मौन दोनों ही उपयोगी हैं।

इस विकासशील युग में कब, कहां, कैसे, कितना और क्या बोलें—इसका प्रशिक्षण होना चाहिए। इससे जीवन की महत्ता शतगुणित होगी। जब भी बोलें, धीरे व मधुर शब्दों का उपयोग करें। हित, मित और परिमित शब्दों के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करे तो व्यक्ति दूसरों को सहज ही प्रभावित कर सकता है। यह संयमित संभाषण ही मौन के अभ्यास का प्रथम सोपान कहा जा सकता है।

बोलना कला है, वैसे ही मौन रहना भी कला है। इसलिए कहा भी है—'बोलना रजत है, तो मौन रहना स्वर्ण'। मौन भी वही सार्थक है, जिसके साथ संयम का पुट हो व मौनव्रत के नियमों की अनुपालना हो। जो मौन संयम व विवेक से संपृक्त नहीं होता है, वह कई बार अवहेलना का कारण भी बन जाता है। दूसरों को पीड़ा देने वाला, अहित करने वाला मौन उपादेय नहीं होता। एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझा जा सकता है—

गांव के बाहर संतों की मंडली विश्राम के लिए ठहरी। कुछ साधु गांव में सूचना देने के लिए गए। गांववासियों ने सम्मान दिया, नमन किया, भक्ति दिखाई। साधुओं ने कहा—'हमारी टोली बड़ी है। गांव के बाहर रुकी हुई है। आज के भोजन की व्यवस्था आप लोगों को करनी है।' लोगों ने श्रद्धा-भाव से कहा—'हम व्यवस्था तो कर देंगे, लेकिन कुछ समय लगेगा।' घंटा-भर बीत जाने पर फिर साधु गांव में आए और पूछा—'क्या व्यवस्था हो गई?'

—'क्षमा करें, अभी नहीं हुई है। कुछ समय और लगेगा।'

'अभी और समय लगेगा?'

—'हां! गांव का काम है। पंच मिलकर निर्णय करते हैं। तब व्यवस्था होती है।'

दो घंटे और बीत गए। फिर भी व्यवस्था नहीं हुई। तब कुछ संत आवेश में आ गए। गांव में घुसे एवं झौंपड़ों के छप्पर तोड़ने लगे। लोगों ने कहा—'आप यह क्या कर रहे हैं? एक तरफ तो हम आपके भोजन की व्यवस्था कर रहे हैं। दूसरी ओर आप हमारे छप्पर तोड़ रहे हैं। क्या आपने अपने गुरु से पूछ लिया था?'

'हां, पूछ लिया।'

'गुरुजी ने क्या कहा?'

'कहा तो कुछ नहीं'।

'फिर आप कैसे तोड़-फोड़ कर रहे हैं?'

एक साधु ने कहा—'गुरुजी के मौन है। हमने उनसे पूछा—भोजन में देर की जा रही है। क्या उनके छप्पर तोड़ दें? तब गुरुजी ने 'हूं' कहकर स्वीकृति दी।'

यह सुनते ही सारे ग्रामवासी अवाक् रह गए।

एक भाई ने तत्क्षण कहा—

मुनि मौन फारसी भणै, हुंकारै षट्काय हणै।
अणबोल्या ही उधम करै, बोल्यां तो के जुल्म करै।।

इस तरह का मौन स्वयं व दूसरों का अहित करने वाला होता है। ऐसे मौन से कोई लाभ नहीं होता। इससे व्यक्ति की अवहेलना भी होती है। मौन से तो कलह शांत होता है—'मौनिनः कलहो नास्ति'—कलह का नाश मौन से होता है। इसीलिए सर्वहितकारक मौन की ओर ही हमारी गति होनी चाहिए।

मौन का समुचित मूल्यांकन किया जाए तो स्वयं साधक को एहसास होगा कि यह तो शांति, आनंद और शक्ति का स्रोत है। महात्मा गांधी के शब्दों में—'बिना मौन का जीवन, बिना पतवार के जहाज के समान है।' कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' ने अपने काव्य 'उर्वशी' में बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है—'वाणी का वर्चस्व रजत किंतु मौन कंचन है'। विचारक पैस्कल ने लिखा है—'दुनिया की नब्बे प्रतिशत मुसीबतें कम हो जाएं, अगर लोग थोड़ा मौन का अभ्यास करें। झगड़े, फसाद, उपद्रव और अदालतें भी कम हो जाएं यदि लोग मौन करें।' उन व्यक्तियों को भी मौन का अभ्यास जरूर करना चाहिए जिनमें ज्ञान व विवेक की कमी है। भक्त कवि रहीमजी ने स्पष्ट कहा है—

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपाल।।

बाइबिल में कहा है—'जो अपनी जिह्वा को वश में रखता है, वह अपने जीवन पर नियंत्रण रखता है।' भर्तृहरि ने कहा है—'विधाता ने मौन को अज्ञानता का ढक्कन बनाया है। यह मनुष्य के अधीन है और इसमें अन्य गुण भी। यही ज्ञानियों की सभा में अज्ञानियों का आभूषण है।'

एक बार बादशाह अकबर ने बीरबल से कहा—'तुम इतने होशियार हो, तब तो तुम्हारे पिताजी भी बहुत होशियार होंगे।' बीरबल ने कहा—'जहांपनाह! यह भी पूछने की बात है क्या? जिसका पुत्र प्रतिभासंपन्न है तो पिता भी होगा ही।'

बादशाह ने कहा—'वे कभी दरबार में नहीं आते?'

'बाहर आना-जाना उन्हें कम ही पसंद है।'—बीरबल ने निवेदन किया।

बादशाह ने आदेश देते हुए कहा—'बीरबल! कल उन्हें दरबार में जरूर भेजना।'

'हजूर! जो आपका आदेश। कल वे अवश्य हाजिर होंगे।'

अगले दिन बीरबल के पिताश्री अकबर से मिलने के लिए दरबार में आए। बादशाह ने सम्मान सहित आगे बुलाया व स्वागत किया।

फिर बादशाह ने जिज्ञासा-वश प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

बीरबल के पिताश्री ने एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

बादशाह को गुस्सा आ गया—'अरे मूर्ख! मैं इतना पूछ रहा हूं, तुम कुछ भी नहीं बोल रहे हो? जाओ, चले जाओ।'

बीरबल के पिताजी सभा से बाहर आ रहे थे और बीरबल राजसभा में प्रवेश कर रहा था। दोनों का सहज मिलन हो गया। पिता ने कहा—'बेटा! और तो कुछ नहीं हुआ, नाराज होकर बादशाह ने मेरा अपमान जरूर कर दिया है।' बीरबल ने कहा—'कोई बात नहीं। मैं सभा में जा रहा हूं। सारी स्थिति संभाल लूंगा।' राजसभा में पहुंचते ही बादशाह ने बीरबल से पूछा—'बीरबल! मूर्ख आदमी से काम पड़े तो क्या करना चाहिए?'

बीरबल ने तत्काल कहा—'हजूर! मौन रहना चाहिए।' बादशाह सुन अवाक् रह गया। 'यही तो अज्ञानियों की सभा में ज्ञानियों का आभूषण है।' बीरबल ने आगे कहा।

कहावत भी है—'एक चुप्पी सौ को हराये।' एक मौन में वह शक्ति है, जो सौ व्यक्तियों को परास्त करने में सक्षम है। गुरुदेवश्री तुलसी ने इसी संदर्भ में लिखा है—'बोलना समस्या है और मौन समाधान। बोलने वाला अनेक प्रकार की उलझनें बढ़ाता है और मौन रहने वाला प्राप्त उलझनों को भी सुलझा लेता है।'

मौन का वैज्ञानिक महत्त्व

व्यक्ति में जितनी आदतें निर्मित होती हैं, उनका उत्पत्तिस्थल ग्रंथितंत्र माना गया है। हमारी वृत्तियां नाड़ीतंत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवहार, अनुभव या अभिव्यक्तीकरण—ये सब नाड़ी तंत्र के कार्य हैं। अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र व नाड़ीतंत्र का परस्पर अन्योन्य संबंध है। इस वैज्ञानिक परिभाषा को हम मौन के संदर्भ में भी उपयोग कर सकते हैं। एक वक्ता को अपने भाषण के दौरान शरीर की नाड़ीतंत्रीय ऊर्जा का व्यय एक मजदूर से अधिक करना पड़ता है। यह बात सुनने व पढ़ने में अटपटी लग सकती है, लेकिन ऐसा ही होता है। इसका रहस्य है कि नाड़ीतंत्रीय ऊर्जा का व्यय प्रयुक्त मांसपेशियों के परिणाम पर आधारित न होकर की जाने वाली क्रिया की इकाई की संख्या के अनुपात में होता है। विज्ञान के अनुसार एक बड़ी मांसपेशी वाले अवयव (हाथ/पैर) को संचालित करने में जो शक्ति लगती है, उतनी या उससे अधिक शक्ति एक छोटी मांसपेशी वाले अवयव (मुंह) को संकुचित-विकुंचित करने में लग सकती है। इस दृष्टि से एक प्रवचनकर्ता अपने स्वर-यंत्र की छोटी मांसपेशियों का जो उपयोग करता है उससे एक मजदूर की तुलना में बहुत अधिक ऊर्जा का व्यय होता है। ऊर्जा के इस अपव्यय को रोकने तथा उसे संगृहीत करने का मौन बहुत मूल्यवान माध्यम है।

जब हम किसी भी शब्द का उच्चारण करते हैं तो उससे पूर्व मस्तिष्क में विचार का प्रवाह निर्मित होता है। उसे अभिव्यक्ति देने से पूर्व भाषा के विधि-विधानानुसार शब्दों को वाक्य में परिवर्तित किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए स्वर-यंत्र की मांसपेशियों को आवश्यकतानुसार संकुचन-विकुंचन करने के सही-सही निर्देश दिए जाते हैं। ध्वनि तरंगों को प्रसारित करने के लिए आवश्यक हवा की मात्रा का नियंत्रण किया जाता है। जिह्वा, होंठ, दांत व चेहरे की मांसपेशियों को भी समान निर्देश दिए जाते हैं। इन सब क्रियाओं के लिए क्रियावाही नाड़ियों के माध्यम से विद्युत-तरंग का प्रयोग आवश्यक होता है। इसलिए एक घंटा प्रवचन देने के पश्चात् व्यक्ति को जो थकान महसूस होती है वह शरीर-श्रम से मजदूरी करने वाले से कहीं अधिक होती है। मौन की साधना से ऊर्जा का अपव्यय नहीं होता

है। यही ऊर्जा अध्यात्म-विकास में सहायक भी बनती है। अतएव यदि यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मौन की शक्ति व उपयोगिता पूर्णतः विज्ञानसम्मत है।

मौन का आध्यात्मिक महत्त्व

भगवान महावीर ने मौन को साधना का आवश्यक अंग माना और उसे तप सदृश महत्त्व भी दिया। तीर्थंकर स्वयं अपने साधनाकाल में दीर्घकालीन मौन रखते हैं। मौन अध्यात्म की दिशा में बढ़ने का सशक्त आलंबन है। मौन के सतत अभ्यास से अंतर्दृष्टि का जागरण होता है।

मौन का वास्तविक स्वरूप है—हमारे मन में जागृत होने वाले आवेग-आवेश एवं विचारों को शांत करना। मानसिक रूप से हमें विचार न सताएं, इस हेतु वाणी के संयम के साथ मानसिक विचारों को पूर्ण शांत करना ही मौन का आध्यात्मिक स्वरूप है। मानसिक द्वंद्व शांत होते ही हम निर्विचार अवस्था की अनुभूति करने लग जाएंगे। यही मौन की निष्पत्ति है। निर्विचार होते ही जो दिखाई देगा—वही परमात्मा है। वही हमारे भीतर छिपा है। निर्मल, निर्विचार, निराकार से साक्षात्कार करना ही अध्यात्म की साधना है। मौन जितना कहने में सरल है, उसकी साधना व आराधना उतनी ही कठिन है। मेरे अनुभव के अनुसार इस बुद्धिवादी युग में अगर दुर्लभ है तो वह मौन है। यह वह रहस्य है जो मन के निविड़ एकांत में प्रच्छन्न है। यही हमारे अस्तित्व से परिचित कराता है। क्या इससे परिचित होने का अवसर हम प्राप्त करना नहीं चाहेंगे? ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें,
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कर्तृत्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

वर्तमान में किए गए कर्मों का फल भविष्य में मिलेगा—यह विचार समाज में मनुष्य द्वारा किए गए कार्यों के परिणामों से सीधा नहीं जुड़ता। यद्यपि कर्मफल का भय उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार हेतु प्रेरित करता रहता है। कर्म की नवीन व्याख्याएं यह बताती हैं कि एक कार्य का परिणाम केवल उसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, जो उस कार्य को करता है, उसका परिणाम दूसरों को भी भोगना होता है। उदाहरणार्थ, हत्या के लिए दोषी व्यक्ति को कैद की सजा केवल उसे ही नहीं, उसके पूरे परिवार को भी भोगनी पड़ती है। इसी तरह वैज्ञानिकों द्वारा किए गए कार्य भी संपूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। कर्म की यह व्याख्या व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को समाप्त नहीं करती, किंतु उस कार्य के सामाजिक आयाम पर भी बल देती है। विज्ञान के उदय से जहां एक ओर मनुष्य को दुखों से कुछ छुटकारा मिला है, वहीं कुछ नए दुख उसे सौगात में मिले भी हैं। अर्थात् जो हिंसा वैज्ञानिक विकास में हुई है उस के परिणाम की अनुभूति अप्रत्यक्ष व्यापक रूप से आज हम कर रहे हैं।

❑ अनुसंधान और पशुक्रूरता : औचित्य?

✍ डॉ. बच्छराज दूगड़

भारतीय धर्म-दर्शन में पशु-पक्षियों को किसी तरह की क्षति न पहुंचाने की बात को काफी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मनुष्य के समान उन्हें भी प्राणवान मानकर एक तरह से समकक्ष स्थान दिया गया है। प्रमुख भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म को मान्यता दी गई है और यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी पशु-पक्षी के रूप में जन्म ले चुका है और वर्तमान जीवन में भी मनुष्य यदि कोई जघन्य कृत्य करता है तो उसे पशु-पक्षी के रूप में जन्म लेना पड़ सकता है—यह मान्यता है। भारतीयेतर संस्कृतियों में पशु-पक्षियों को इस तरह से महत्त्व नहीं दिया गया। पाश्चात्य धर्मग्रंथों और अरस्तू, संत ऑगस्टाइन, संत एक्विनास, डेकार्ट आदि विचारकों ने माना है कि पशु-पक्षी केवल मनुष्य के लिए हैं। इस मान्यता के परिणामस्वरूप तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप लाखों-लाखों पशु-पक्षी प्रतिवर्ष या तो मनुष्य के भोजन के लिए काम में लाए जा रहे हैं, या फिर प्रयोगशालाओं में उन पर परीक्षण करके उन्हें मार दिया जाता है। मानव जाति ने अपनी विकास योजनाओं एवं अपने आवासों के लिए भी जंगली पशु-पक्षियों के आवास छीन लिए हैं। परिणामतः बहुत-सी प्रजातियां लुप्त हो गई हैं। जो पशु-पक्षी बचे हैं, वे या तो भयभीत हैं या लुप्त होने के कगार पर हैं।

पशु-पक्षियों के इस विनाश पर अहिंसा के प्रयोगकर्ता क्या कहते हैं—यह जानना अप्रासंगिक नहीं होगा। जैनयोग दर्शनावलम्बी एवं अधिकांश महायान बौद्ध मांसाहार का पूर्णतः निषेध करते हैं। मांसाहार पर वे प्रतिबंध की वकालत करते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों में पशु-पक्षियों का प्रयोग, जीवनदायिनी औषधियों के अन्वेषणों में पशु-पक्षियों का विच्छेदन आज के विकास की देन हैं। इन अन्वेषणों में मारे जाने वाले पशु-पक्षियों की बलि का जैन और बौद्धों ने कड़ा प्रतिवाद किया था। पशुबलि और अश्वमेध तब समाज में प्रचलित थे। जैन और बौद्ध समुदाय इसका यह कहकर प्रतिवाद करता रहा है कि किसी भी पशु-पक्षी को मारना प्रथम और महत्त्वपूर्ण अहिंसा व्रत का उल्लंघन है। जैन और बौद्धों के इस प्रतिवाद का परिणाम बाद के साहित्य में भी देखा जा सकता है, जहां अहिंसा को जैन और बौद्ध के समान ही व्यापक मान्यता दी गई। परिणामतः लगभग संपूर्ण भारत में (कुछेक क्षेत्रों में छोड़कर) पशुबलि काफी कम हुआ। फिर भी कुछ परंपराओं में लाखों बेकसूर पशुओं का वध अभी भी किया जाता है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों में प्रयुक्त होने वाले पशु-पक्षियों पर जैन और बौद्ध-दर्शन के संदर्भ के साथ हम विचार करें। दोनों ही परंपराएं पशुओं को प्राणवान मानती हैं। पशुओं में

अनुभूति और संवेगों को भी ये मत स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर पश्चिमी चिंतक इसे मात्र मानवीय आरोपण कहकर झुठला देते हैं। मानव सहित सभी पशु-पक्षियों का अपने कर्मों के अनुरूप विभिन्न योनियों में जन्म लेना उन्हें एक व्यापक परिवार का अंग बना देते हैं। जैन तो जल, पृथ्वी, वायु आदि को भी सजीव मानकर इन्हें व्यापक परिवार का अंग मानते हैं। कुछेक धर्म अभी भी हैं जो पशुओं को किसी भी तरह अपने समान नहीं मानते और प्रयोगशालाओं में परीक्षणों के दौरान पशुवध को वे स्वीकार कर लेते हैं, जबकि जैन और बौद्ध दर्शन में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। इन दर्शनों की स्पष्ट मान्यता है—मारना महा-दुराचार है, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में दुख भोगना होगा।

वर्तमान में किए गए कर्मों का फल भविष्य में मिलेगा—यह विचार समाज में मनुष्य द्वारा किए गए कार्यों के परिणामों से सीधा नहीं जुड़ता। यद्यपि कर्मफल का भय उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार हेतु प्रेरित करता रहता है। कर्म की नवीन व्याख्याएं यह बताती हैं कि एक कार्य का परिणाम केवल उसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, जो उस कार्य को करता है, उसका परिणाम दूसरों को भी भोगना होता है। उदाहरणार्थ, हत्या के लिए दोषी व्यक्ति को कैद की सजा केवल उसे ही नहीं, उसके पूरे परिवार को भी भोगनी पड़ती है। इसी तरह वैज्ञानिकों द्वारा किए गए कार्य भी संपूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। कर्म की यह व्याख्या व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को समाप्त नहीं करती, किंतु उस कार्य के सामाजिक आयाम पर भी बल देती है। विज्ञान के उदय से जहां एक ओर मनुष्य को दुखों से कुछ छुटकारा मिला है, वहीं कुछ नए दुख उसे सौगात में मिले भी हैं। अर्थात् जो हिंसा वैज्ञानिक विकास में हुई है उस के परिणाम की अनुभूति अप्रत्यक्षतः व्यापक रूप से आज हम कर रहे हैं।

यह तर्क दिया जा सकता है कि मानव जीवन को बचाने हेतु औषधियों पर शोध आवश्यक है—अर्थात् बीमारियों के विरुद्ध लड़े जाने वाले धर्मयुद्ध में पशुओं की बलि उचित हो सकती है। सामान्यतः जैन कर्म सिद्धांत इस तरह की किसी भी हिंसा को उचित नहीं ठहराता। यद्यपि जैन दर्शन ने सामान्य जन के लिए आत्मरक्षार्थ हिंसा को एक सीमा तक निषिद्ध नहीं किया है, पर ऐसी हिंसा को माना हिंसा ही गया है। एक मध्यम मार्ग पशुओं के संरक्षण हेतु निकाला गया है, जिसके अनुसार दवाइयों के परीक्षण हेतु पशुओं का अत्यंत सीमित उपयोग तो किया जाता है, किंतु बाद में उनके पुनर्वास और उनको शरण देने की व्यवस्था भी की जाती है। बौद्ध दर्शन भी एक सीमा तक वैज्ञानिक प्रयोगों को उपयोगी स्वीकार करता है, परंतु पारमार्थिक दृष्टि से ऐसे किसी भी कार्य को उचित नहीं मानता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार न तो वैज्ञानिक, न ही रोगी और न ही पशु अपना स्वतंत्र आत्म-स्वभाव रखते हैं। ये सभी ऐसे विभिन्न अंशों के समूह हैं, जो उद्भूत होते हैं और मिट जाते हैं। इन सभी को सहयोग की अपेक्षा है, न केवल लंबे जीवन के लिए, वरन् क्षणभंगुरता के अनुभव के लिए भी। बौद्धदर्शन के अनुसार मृत्यु से बचना कोई उच्च गुण नहीं है। जैन दर्शन के समान ही मृत्यु की गुणवत्ता वहां महत्त्वपूर्ण है, जिसे केवल जीवन को समझकर ही निश्चित किया जा सकता है। जब मृत्यु आ रही हो तो स्वतंत्रता से उसका वरण करें, न कि उससे भागें।

इस विवेचना के पश्चात्, यह प्रश्न अभी भी शेष है कि प्रयोगशालाओं में पशुओं की हत्या के प्रति हमारी दृष्टि क्या होनी चाहिए? बौद्ध दर्शन इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमारी कुछ सहायता करता है। वहां तीन तत्त्वों पर ध्यान देने की बात कही गई है—

1. कार्य का अभिप्राय क्या है?
2. उसको करने के साधन क्या हैं?
3. उस कार्य के परिणाम क्या हैं?

इन तीनों तत्त्वों पर हम विचार करें तो हम पाएंगे कि पहली श्रेणी में बहुत-सी संभावित स्थितियां हैं। इन स्थितियों में से बहुत-सी स्थितियां ऐसी हैं, जो अनिवार्य नहीं हैं—उनसे बचा जा सकता है। जैसे—हाईस्कूल स्तर पर जीव-विज्ञान की कक्षाओं में पशुओं की हत्याएं भी अनावश्यक हैं। केवल अत्यावश्यक स्थितियों, जैसे—किसी भयानक बीमारी के टीके के परीक्षण हेतु पशु का प्रयोग सीमित रूप में स्वीकार्य तो है, किंतु इसके विकल्प को भी खोजा जाना चाहिए।

दूसरा पक्ष साधनों का है। क्या परीक्षण के दौरान उनकी पीड़ा को कम किया जा सकता है? क्या परीक्षण से पूर्व और उसके पश्चात् उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है?

तीसरे पक्ष के परिणाम पर विचार करने से यह प्रश्न उभरता है कि क्या वास्तव में जीवन को बचाया जाए?

रासायनिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप आनुवंशिक गड़बड़ी और कैंसर जैसे असाध्य रोगों की बढ़ती दर के भय के चलते, उस उत्पाद का प्रयोग कौन करेगा? क्या ऐसे परीक्षण, और अधिक परीक्षणों को बढ़ावा नहीं देंगे? इससे और अधिक जानों के जाने का खतरा नहीं रहेगा?

इन सभी शंकाओं को ध्यान में रखते हुए पशुकल्याण से संबंध रखने वाले बहुत-से संस्थान ऐसे किसी भी परीक्षण के लिए पशुओं के प्रयोग पर रोक चाहते हैं। यद्यपि ऐसे आंदोलन बहुत थोड़े हैं, परंतु उनकी भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। विशेषकर ऐसे समय में जब पशु-पक्षियों पर ऐसे परीक्षण युद्ध संबंधी अनुसंधानों के लिए भी किए जा रहे हैं। अतएव, हमें इन्हें बचाने की संभावनाओं पर निश्चित रूप से विचार करना चाहिए। ऐसा हम भावुकतावश न करें, किंतु हमारी आवश्यकताओं व इच्छाओं का सम्मान करके करें। जीवन-मात्र के सम्मान के लिए अंतर्संबंध व परस्पर जुड़ाव आवश्यक है। प्राणियों की दुनिया में हम सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। हम स्वयं अपना जीवन बचाना चाहते हैं, दूसरे प्राणी भी ऐसा ही चाहते हैं। अतः किसी एक के जीवन को बचाना गौण है।

❖

कुछ लोगों का विचार है कि अनुकरण मौलिकता का दुश्मन है। इससे मनुष्य की प्रतिभा मारी जाती है और बुद्धि स्वतंत्र विचार करने की आदत से हाथ धो बैठती है। नकल करना तुच्छ और घृणित कार्य है, जिससे सुशिक्षित मनुष्य की शान पर बट्टा लगता है। यह मानसिक दासता और क्षीणता का लक्षण है और नकल करने वालों से मौलिक रचना की कभी आशा नहीं की जा सकती। मौलिकता का मतलब होता है—नई बात सोचना, किसी काम को पहले करना या आगे बढ़कर रास्ता दिखाना। इसके विरुद्ध अनुकरण का अर्थ है पीछे चलना, दोहराना, दूसरों के बताए हुए रास्ते पर चलना, नकल करना। दोनों परस्पर विपरीत हैं। पर ऐसा नहीं कि यह विचार बिलकुल सत्य हो। अनुकरण हमेशा अंधाधुंध नहीं किया जाता, बालकों को साधारण-से-साधारण काम अनुकरण करने के लिए दिया जाए, वे उसकी नकल ज्यों-की-त्यों नहीं करते; कुछ-न-कुछ परिवर्तन जरूर आ जाता है। इसका कारण यह होता है कि वे अनुकरण के लिए उस काम की कुछ बातें चुन लेते हैं। यह इच्छानुसार चुनाव प्रायः अनुकरण में रहता ही है और इस चुनाव में समावेश रहता है निर्णयात्मक विचार, रचनात्मक कल्पना और स्वतंत्र रुचि का। अनुकरण करने में भी बालक अपनी विलक्षण रुचि और व्यक्तित्व का परिचय देता है। हम प्रायः विद्यार्थियों पर झुंझला उठते हैं कि वे नकल भी नहीं कर सकते। इस झुंझलाहट से यही सिद्ध होता है कि अनुकरण में ज्यों-की-त्यों नकल नहीं की जाती, उसमें मौलिकता और इच्छानुसार रचना करने की गुंजाइश हमेशा रहती है। बहुत-कुछ समझाने पर भी बालक अनुकरण में अदल-बदल करने से बाज नहीं आते। यह अदल-बदल उनकी प्रतिभा और बुद्धि का फल है। पर क्या यह चुनाव बालकों की मौलिकता को सिद्ध करता है? इससे केवल यही जाहिर होता है कि अनुकरण में बालक जिन बातों को उपयोगी समझते हैं, जो उनके प्रयोजनों और इच्छाओं के अनुसार होती हैं, उनको वे अपनाते और दोहराते हैं। अनुकरण मौलिकता का स्रोत है, इसमें कुछ अत्युक्ति हो सकती है, पर अनुकरण द्वारा बालकों की प्रतिभा दब जाती है, यह विचार भी गलत है।

—हंसराज भाटिया

हर व्यक्ति सफलता पाना चाहता है, पर कई कदम गति के प्रथम चरण में ही ठिठक जाते हैं। शंका, भय और निराशा के कई रोड़े अजाने ही उन्हें असफल कर देते हैं। जटिल प्रतीत होने वाली सभी गुत्थियां जटिल ही नहीं होतीं, थोड़ी-सी समझ, धीरज और निष्ठापूर्वक प्रयास से वे गुत्थियां आसानी से सुलझ सकती हैं। जिसे इतनी-सी बात समझ आ जाती है, वह जीवन-पथ की कई गुत्थियों को आसानी से सुलझाता हुआ आगे बढ़ सकता है। आंखें तो सभी के पास हैं, पर यथार्थ को देखने-समझने की दृष्टि भी सबके पास हो, यह जरूरी नहीं। इसी दृष्टि के अभाव में अनेक भ्रम और संशय के नागफन पनप जाते हैं।

संकल्प : विकास का सेतु

✍ समणी सत्यप्रज्ञा

शंका या संशय के दो अर्थ किए जाते हैं—जिज्ञासा और संदेह। कहा गया—'न हि संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति', अर्थात् जिज्ञासा के बिना व्यक्ति कल्याण को नहीं देख सकता। विकास के लिए जिज्ञासा आवश्यक है। संशय का दूसरा अर्थ है—संदेह। 'संशयात्मा विनश्यति'—संशयशील को विनष्ट होना है। यथार्थ के प्रति शंकाशील मन सम्यक् दर्शन में बाधा है। शंकालु मनःस्थिति ही सफलता के मार्ग से पीछे हटाती है।

ज्ञातधर्मकथा का प्रसंग है—दो मित्र जंगल में घूमने गए। वनमयूरी के अंडे देखे। विचार किया—यदि ये अंडे हम ले जाएं, उचित प्रक्रिया से पोषित करेंगे, तो समय आने पर हमें मयूर प्राप्त हो सकेगा। प्रशिक्षित होने पर वही मयूर हमारे मनोरंजन का बहुत अच्छा साधन बन जाएगा। दोनों मित्र अंडे ले जाते हैं। एक मित्र अंडे के संपोषण की उचित व्यवस्था कर निश्चिंत हो जाता है। दूसरे मित्र के चंचल चित्त में बार-बार संशय का नाग डोलने लगता है—'इस अंडे से मयूर प्राप्त होगा या नहीं।' मन की ऐसी अधीरता और निरंतर शंका बार-बार उसके पैरों को अंडे की दिशा में गतिमान बना देती है। वह अंडे के पास जाता है। उसे हाथ में लेकर देखता है। स्पर्श से उसके भीतर संभावित हलचल को, संवेदन को पकड़ने का निरर्थक प्रयास करता है। बार-बार अंडे को हिलाता-डुलाता है कि भीतर पल रहे मयूर के अस्तित्व का एहसास पा सके। उसका शंकाशील मन व उससे होने वाली क्रियाएं अंडे को निस्सार कर देती हैं। जबकि पहला मित्र समय पर अंडे से मयूर प्राप्त करता है। दूसरे को पश्चात्ताप के सिवा कुछ नहीं मिलता। 'होगा या नहीं'—भीतर पल रही इस आशंका ने उसके लिए पश्चात्ताप योग्य स्थिति पैदा कर दी।

विचार व्यवहार का जनक है। विचार से व्यवहार को संपोषण मिलता है। व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में जैसे ही निषेधात्मक चिंतन का जन्म हुआ, बाहर उसका प्रभाव जाए या नहीं, भीतर एक निषेधात्मक शक्ति का प्रभाव परिव्याप्त हो जाएगा। जैसे कि तप्त लोहदंड को हाथ से पकड़ कर कोई किसी पर प्रहार का प्रयास करे, तो दूसरे पर वह प्रहार हो पाए अथवा नहीं; स्वयं का हाथ जरूर जल जाएगा। शंका, संदेह, निषेधात्मक चिंतन आदि का प्रहार भी स्वयं पर अवश्य होगा और वैसा ही जैसा तपते लोहदंड से होता है।

शरीर विज्ञान के अनुसार एक सेकेंड के निषेधात्मक चिंतन से एक साथ 1500 श्वेत रक्त कणिकाएं (W.B.C.) घट जाती हैं, जो कि रोग-प्रतिरोधात्मक क्षमता के लिए उत्तरदाई हैं। इसके विपरीत एक सेकेंड की विधेयात्मक सोच 1600 श्वेत रक्त कणिकाओं (W.B.C.) को बढ़ा देती हैं। वैकल्पिक चिकित्सा विधि के बतौर 'सही सोच' की ओर चिकित्सकों का ध्यान विशेष रूप से जाने लगा है।

विचार एक जादू है। विचारों से चिकित्सा के क्षेत्र में नई क्रांतियां संभावित हैं। 'क्वांटम हीलिंग' के माध्यम से चिकित्सा जगत को एक नई विधि प्राप्त हुई है। शुभ विचारों

से ऐसी-ऐसी बीमारियों का इलाज होने लगा है, जिसका मात्र दवा से उपचार ही संभव प्रतीत न हो रहा था। यह मानना है कि दवा के कण, श्वसन कण, भोजन के कण अच्छे विचारों के बल पर शरीर के ऐसे भागों में पहुंच सकते हैं जहां पहुंचकर बीमारी घटा सकते हैं। 'क्वांटम' विशेषण का आधार 'क्वांटम' यांत्रिकी द्वारा वर्णित सूक्ष्म कणों का संभावनात्मक व्यवहार है। दूसरे शब्दों में दवा से रोगी के ठीक होने की संभावना को बढ़ाने हेतु अतिरिक्त उपाय के रूप में सद्विचारों का सहारा लिया जा सकता है। प्रेक्षाध्यान में अनुप्रेक्षा के विविध प्रयोग सकारात्मक सोच को ही पुष्ट बनाने वाले हैं।

बहुत आसान नहीं, तो असंभव दुनिया में भी हम नहीं जी रहे हैं। अनर्गल शंकाएं आंतरिक शल्य हैं। 'विजय हमारी होगी या सामने वाले की? परीक्षा का परिणाम परिश्रम के अनुरूप मिलेगा या नहीं? स्वास्थ्य ठीक होगा या नहीं? वृद्धावस्था में उचित सेवा का योग मिलेगा या नहीं?' अक्सर इस प्रकार की असमयोचित शंकाएं व्यक्ति अपने भीतर पालता रहता है। जैसे ही—'होगा या नहीं' या 'किंतु, परंतु'—आदि के शल्य भीतर प्रवेश करते हैं, समझ लीजिए कि सफलता की जड़ें ही कटनी शुरू हो जाती हैं।

निषेधात्मकता में डूबा व्यक्ति भविष्य की चिंता में घुलता रहता है। उसका मन उसे वर्तमान में उपलब्ध सुख को देखने की अनुमति नहीं देता। 'भविष्य में क्या होगा'—सोच अच्छे-खासे वर्तमान को भी दुःखी बना देती है। 'होगा या नहीं' जैसा विचार आते ही भविष्य के गर्भ में एक निषेधात्मक आदेश तत्काल चला गया।

धरती में जैसा बीज बोया जाता है—समय आने पर उसी अनुरूप फल मिलता है। इसी तरह मस्तिष्क के बगीचे में भी जैसा विचार-बीज बोया जाता है, सफलता के कुसुम भी उसी अनुरूप खिलते हैं।

हर व्यक्ति सफलता पाना चाहता है, पर कई कदम गति के प्रथम चरण में ही ठिठक जाते हैं। शंका, भय और निराशा के कई रोड़े अजाने ही उन्हें असफल कर देते हैं। जटिल प्रतीत होने वाली सभी गुत्थियां जटिल ही नहीं होतीं, थोड़ी-सी समझ, धीरज और निष्ठापूर्वक प्रयास से वे गुत्थियां आसानी से सुलझ सकती हैं। जिसे इतनी-सी बात समझ आ जाती है, वह जीवन-पथ की कई गुत्थियों को आसानी से सुलझाता हुआ आगे बढ़ सकता है। आंखें तो सभी के पास हैं, पर यथार्थ को देखने-समझने की दृष्टि भी सबके पास हो, यह जरूरी नहीं। इसी दृष्टि के अभाव में अनेक भ्रम और संशय के नागफन पनप जाते हैं।

दृष्टि के दो स्तर हैं—आंख की दृष्टि एक सीमित क्षेत्र को ही अपना विषय बना पाती है। मस्तिष्क की दृष्टि ही क्षमताओं के जागरण के व्यापक वितान को अपना विषय बना सकती है। मनुष्य असीम संभावनाओं का स्वामी है। विकास की हर ऊंचाई को वह हस्तगत कर सकता है। हर महान जीवन, महान स्वप्न के साथ ही शुरू होता है। अतः जरूरी है कि शंका के शल्य को निरस्त किया जाए तथा संभावनाओं, सर्जनाओं के व्यापक जगत में प्रवेश करें।

संस्कृत साहित्य में एक पद्य आता है—

सुमुखोऽपि सुवृत्तोऽपि सुमार्गपतितोऽपिसन्।
महता पादलग्नोऽपि व्यथयव्येय कण्टकः।।

पथ का कांटा भले कितना ही सुंदर हो और पैर चाहे महान व्यक्ति के ही हों, उस में भी वह चुभन ही पैदा करता है। इस बाहर के कांटे की ओर हमारा ध्यान भी तत्काल जाता है, वेदना का अनुभव भी होता है और तत्काल उससे मुक्त होने का प्रयास भी किया जाता है। जब तक कांटा निकल न जाए, निःशल्य न हो जाएं—तब तक चैन भी नहीं मिलता।

आत्मा को भी शरीर की तरह ही निःशल्यता काम्य है। शंका या कांक्षा आदि शल्य हैं। अध्यात्म के पथ का पथिक शंका-कांक्षा से गतिशील नहीं हो सकता।

दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति है—विचार की शक्ति। संपूर्ण विकास यात्रा के मूल में विचार ही प्रमुख है। संपर्क के जगत में शब्द का बहुत महत्त्व है और शब्द से ही संकल्प संप्रेषित होता है। समय, परिस्थिति और मनःस्थिति की खिड़की से शब्द उभर कर बाहर आता है। जिस परिस्थिति और मनःस्थिति से शब्द उभरा है, उसी परिस्थिति व मनःस्थिति से ही उसे ग्रहण किया जा सके—यह आसान नहीं है। व्यवहार के धरातल से बिना जुड़े, बाहर से प्रभावित हो कर व्यक्ति दूसरों के प्रति ही नहीं, अपने बारे में, अपनी सामर्थ्य के बारे में चाही-अनचाही कई शंकाएं पाल लेता है, जो समय के साथ उसके विकास-पथ में अवरोधक गांठें बन जाती हैं। समझ का भ्रम यथार्थ पर परदा डाल गलतफहमियों का हेतु बन जाता है।

शेष पृष्ठ 56 पर

बुनती मौसी को पढ़ाते हुए छठा साल चल रहा था, तभी एक अच्छा लड़का मिल गया और सुमति मौसी की शादी हो गई। एक बार शादी का सिलसिला चला तो फिर सुमति मौसी के देवर का दोस्त, जिठानी का भतीजा, किसी का साला तो किसी का भांजा—रिश्ते आते गए और बाकी दो मौसियों की भी शादियां हो गईं। मेरी अम्मा कहती थीं, 'बुन्नो, अब तेरी बारी है।' और बुन्नो का जवाब यही होता, 'चाची, अब सब समेट-संवार लूं, फिर फुर्सत से सोचूंगी।' दिन बीतते गए और समय ने ही अपने हाथ समेट लिए और बुनती मौसी की सारी फुर्सत को पोटली में बांध कर दूर के सफर पर चला गया।

कहानी

बच्चे

✍ सांत्वना

अब की बार शायद पांच साल बाद लौटना हो रहा है अपने शहर में। अपना शहर : हां, और कह ही क्या सकते हैं! अंग्रेजी में शब्द है 'होम टाउन' वही ठीक लगता है, वरना अपना शहर तो अब इस महानगर को ही कहा जाएगा। सारी जिंदगी तबादले की नौकरी की ठेलम-ठेल में जाने कहां-कहां घूमा हूं। तीन-चार साल हुए नहीं कि उठाओ बोरिया-बिस्तर। सुमन सब से ज्यादा कुढ़ती थी। कहती थी, बड़ी मुश्किल से फ्रेंड्स बना ही पाती हूं कि चलने का समय हो जाता है। तुम्हारा तो ऑफिस है; मैं सारे दिन घर में बोरियत झेलती हूं। वैसे शिकायत वह अब भी करती है कि क्या एक जगह खूंटा गाड़ कर बैठ गए! लेकिन करें भी तो क्या! सुमित कॉलेज में पढ़ रहा है और बिटिया इस साल हायर सेकेंडरी का इम्तहान देगी। अब इन को पहले जैसी घुमक्कड़ पढ़ाई रास थोड़े ही आएगी। इसीलिए परिवार महानगर में खूंटा गाड़ कर बैठा है और मैं अब भी नौकरी के चंद बचे-खुचे साल, अपने 'होम टाउन' को अपने दिल में बड़े दुलार से छिपाए-छिपाए, हिंदुस्तान के कितने ही शहरों में नौकरी के लिए पड़ाव डाले रहता हूं। जब भी कोई ऐसा प्रसंग आता है तो मेरा शहर परदे के पीछे से झांकने लगता है। सुमन कहती है : तुम्हें तो औरत होना चाहिए था। इतने भावुक हो न! यह तो सही है। नहीं तो सुमन को देखो, शुरू में साल-दो साल में मायके का चक्कर लगा ही आती थी, लेकिन अब तो तभी जाती है, जब कोई शादी-ब्याह का मौका हो या किसी की मौत। कहती है, 'भई, जहां भी जाऊं, मुझे तो तीन दिन बाद ही अपना घर बुलाने लगता है। अपना घर और अपना बिस्तर। अब तो इन्हें छोड़ कर कहीं मन नहीं लगता।'

पर मैं हर दूसरे साल अपने शहर का एक चक्कर जरूर लगाता था। खुशी व गमी के मौकों के अलावा भी। अपना शहर, अपने लोग। वैसे अपने लोग अब कहां रह गए : पहले बाबूजी गए, फिर अम्माजी। छोटा भाई बरसों पहले किसी दूसरे शहर नौकरी के सिलसिले में चला गया था। बहन मुंबई में। बस, बड़े भाईजी रह गए थे भाभीजी के साथ। उन के बच्चे परदेश में बस गए थे। बड़े भाई के लिए इतना खिंचाव आजकल किसको होता है? सुमित कहता है, 'पापाजी, आप बड़े ही नहीं हुए। आप का बचपन आप पर इतना हावी है कि बस! कोई बात हुई नहीं कि 'जब हम छोटे थे की टेक शुरू हो जाती है'।' वाकई मैं शायद बड़ा या जवान हुआ ही नहीं। बचपन ने हाई जंप लगा कर एकदम बुढ़ापे की जमीन पर लाकर पटक दिया। हां, बुढ़ापा और होता ही क्या है? पीछे देखना और जीए हुए को दुबारा जीते जाना।

सभी सोचते हैं कि शायद मैं सिर्फ बड़े भाईजी से मिलने ही अपने शहर जाता हूं, लेकिन कोई नहीं जानता—मैं वहां अपने बचपन से मिलने जाता हूं। अपने शहर में अपने पुश्तैनी घर के अलावा एक और घर है जिसके कोनों

में, कॉर्निस पर सजे चायना में, दरार पड़े आंगन में, काई लगी छत पर, मसहरी के डंडे लगे बड़े-से डबल बेड के नीचे अभी भी मेरा बचपन ढूंढ़ने से मिलता है। वह घर है, हमारे घर से लगा हुआ बुनती मौसी का घर।

बुनती मौसी का असली नाम क्या है कौन जाने, लेकिन बहनों के नाम से अंदाजा लगा सकता हूं कि विनती रहा होगा। तीन बहनें हैं बुनती मौसी की, भाई एक भी नहीं। सुमति, सुनीति, विरति। विरति मतलब—बस और नहीं—लड़का हो तो ठीक वरना विरति—फाइनल कर्टन बुनती मौसी का असली नाम उन के माता-पिता भी भूल गए थे। नाना-नानी हमेशा आवाज लगाते, 'बुन्नो, अरी ओ बुन्नो!' नानीजी कहती, 'अपने बाऊजी को बता—सब्जी क्या लानी है।' नानाजी बाजार का झोला लिए दरवाजे पर खड़े-खड़े इतमीनान से खैनी मलते और बुन्नो के हुक्म का इंतजार करते। बुनती मौसी सुबह-सवेरे ही हाथ में सलाई और ऊन का गोला लिए आती और नानाजी को सब्जी की लंबी लिस्ट बताती। यह सब करते हुए पूरे समय उन की आंखें बुनाई पर टिकी होतीं और उंगलियां गजब की तेजी से उल्टा-सीधा, सीधा-उल्टा, उल्टे पे सीधा, सीधे पे उल्टा करती रहती। ऊन का गोला कपड़े के एक थैले में उनकी बाईं बांह पर लटकता रहता था। ऊन के गोले के अलावा भी हम बच्चों के लिए उसमें बड़ी आकर्षक चीजें रहती थीं। हम अक्सर मौसी को घेर कर कहते थे :

बुन बुन बुन बुनती मौसी।
मौसी की थैली में क्या?
लालीपाप और टॉफी गोली।
मौसी खाली कर दो थैली।
कल है तुम्हारा ब्याह।

मौसी मुस्कराकर कहतीं, 'ठहर जाओ, शैतान कहीं के!' और थैली में से सचमुच मीठी गोलियां निकाल कर हमें पकड़ातीं। उन दिनों बुनती मौसी बी. ए. में पढ़ती थीं और नानाजी किसी सरकारी दफ्तर में मुलाजिम थे। ठीक नौ बजे भोंपू बजने के साथ-साथ टीन का गेट खड़खड़ाता और नानाजी अपनी साइकिल निकालते। पीछे कैरियर पर बुनती मौसी अपनी किताबें बगल में दबाए बैठ जातीं। कॉलेज आने के एक फर्लांग पहले ही मौसी साइकिल से उतर जातीं और नानाजी आगे चले जाते। बुनती मौसी एम. ए. के आखिरी साल में थीं, उसी साल नानाजी रिटायर हो गए। जैसे-तैसे इम्तहान देकर मौसी ने स्कूल में पढ़ाना शुरू कर दिया। पिछली बार जब वहां गया था, तब भी पढ़ाती थीं पर कॉलेज में। वही छोटा-सा स्कूल अब महाविद्यालय बन गया था। बुनती मौसी इतिहास पढ़ाती थीं और खाली पीरियड में कॉलेज के हरे लॉन में उजली धूप में बैठ कर पूरे दम से अपनी बर्छियां चलाती रहती थीं।

मेरी अम्मा कहती थीं, इस बुन्नो के सिर पर बुनाई का भूत सवार है। एक बार यह एक आदमी का पीछा करती आधा मील चली गई। अधेड़ आदमी ने सिटपिटा कर मुड़ कर गला खंखारा तो चट से बोली, 'माफ कीजिए भाई साहब, आप के स्वेटर का नमूना उतार रही थी।'

आस-पड़ोस के, रिश्तेदारों के, सहेलियों के—जहां भी, जितने भी बच्चे हैं, सभी ने बुनती मौसी का बुना कम-से-कम एक स्वेटर तो जरूर ही पहना होगा। 'किस का स्वेटर बुन रही हो मौसी?' 'तेरे छोटे भाई का'। 'अब यह किस का स्वेटर है?' 'मिसेज गुप्ता के पोते का।' 'बड़ा प्यारा डिजाइन है, किस का बुन रही हो?' 'अपनी महरी की लड़की आती है आजकल काम करने गोद में बच्चा लिए, उसी का बुन रही हूं।' 'अब किस की सर्दी कम करने पर तुली हो बुन्नो?' 'बाऊजी के एक फ्रेंड हैं, उनका।' 'अरे, यह तो अंगोरा ऊन है, बच्चे का सूट बुन रही हो? किस का है?' 'सुमति के लड़के का।'

कभी-कभी मौसी के बुनने से नानी चिढ़ जातीं, क्योंकि घर का सारा काम नानी या छोटी बहनों को निपटाना पड़ता। नानी झिड़क कर कहतीं, 'अरी इन सलाइयों को छोड़ कर कभी कड़छी-चिमटा भी पकड़ेगी या...' मौसी मुस्कराकर जवाब देतीं, 'पकड़ूंगी। अपने घर में।' एक बार मेरी अम्मा ने कहा, 'बुन्नो, तेरे जब अपने बच्चे होंगे तो तू उन्हें कपड़े-वपड़े तो क्या ही पहनाएगी! बस स्वेटरों से ही मढ़ कर रखेगी।' बुनती मौसी मुस्करा दीं और कहा, 'सब रंग के एक-एक सूट तो जरूरी बनाऊंगी।'

हां, हर रंग के बेबी सूट तो बनाए मौसी ने बेटे-बेटियों के लिए—सुमति, सुनीति और विरति मौसी के...

बुनती मौसी को पढ़ाते हुए छठा साल चल रहा था, तभी एक अच्छा लड़का मिल गया और सुमति मौसी की शादी हो गई। एक बार शादी का सिलसिला चला तो फिर सुमति मौसी के देवर का दोस्त, जिठानी का भतीजा, किसी का साला तो किसी का भांजा—रिश्ते आते गए और बाकी दो मौसियों की भी शादियां हो गईं। मेरी अम्मा कहती थीं, 'बुन्नो, अब तेरी बारी है।' और बुन्नो का जवाब यही

होता, 'चाची, अब सब समेट-संवार लूं, फिर फुर्सत से सोचूंगी।' दिन बीतते गए और समय ने ही अपने हाथ समेट लिए और बुनती मौसी की सारी फुर्सत को पोटली में बांध कर दूर के सफर पर चला गया।

पिछले से पिछले साल दीवाली के बाद जब गया था वहां तो बुनती मौसी के घर शोर-शराबा। सब मौसियां और उन के बच्चे आए हुए थे। कोई इंजीनियरिंग पढ़ रहा है तो कोई डॉक्टरी। कोई फ्रेंच सीख रही है तो कोई इंटीरियर डेकोरेशन। कहीं पर गजल का टेप चल रहा है तो कहीं स्टीरियो पर पश्चिमी धुन। पौधों की तरह धड़धड़ाते हुए बढ़ने वाले बच्चे। पर बच्चे क्या सचमुच पौधे होते हैं? अपना सारा संसार लिए सालोंसाल सामने खड़े रहने वाले? नहीं न?

बच्चों की भीड़-भाड़ में बुनती मौसी बरामदे में बेंत की कुर्सी पर बैठी चश्मा चढ़ाए बुन रही हैं और सामने बैठी सुमति मौसी की बेटी से बतिया रही हैं। उसकी गोद में छोटी-सी बच्ची है। मुझे देखते ही बोल उठी, 'अरे तू—आ, आ बैठ।'

'किसके लिए बुन रही है मौसी!'

'और किसके लिए रे, यह मेरी नन्ही-सी दोहिती नहीं देखी तू ने, उसी के लिए।'

मौसी मुस्कराई और अपने बचपन को याद करते हुए मैंने हंस कर कहा—'बुन बुन बुन बुन बुनती मौसी...'

'चाय पिएगा? जा तो बिट्टो, हम दोनों के लिए चाय भिजवा दो।'

शाम की धूप का एक टुकड़ा मौसी के मोजों से ढके पांवों पर ठहरा हुआ था। मैं तुकबंदी की पंक्तियों को मन-ही-मन याद करने की कोशिश कर रहा था।

सच, समय कितनी जल्दी बीत जाता है। ऐसा लग रहा है—अभी तो आया था। लेकिन पिछली बार मौसी ने गेट के पास नीबू की कलम लगाई थी। वह कलम झाड़ी बन चुकी थी और उस में कितने नीबू लगे थे! जाड़ों की शाम के उदास उजाले में काई लगी छत के कोने से पीपल का एक नन्हा पौधा झांक रहा था। भैया की चिट्ठी से पता लगा था कि मौसी पिछले साल ही रिटायर हो चुकी थीं।

अंदर बत्ती जल रही है और रेडियो की आवाज आ रही है। दरवाजे पर दस्तक दी तो महरी ने आकर दरवाजा खोला।

'बुनती मौसी?'

'दीदीजी अंदर हैं, आइए।'

बड़े कमरे में अपनी बेंत की कुर्सी पर शाल में लिपटी बुनती मौसी बैठी हैं। मुझे देखते ही बोल उठीं, 'अरे बबुआ, आओ, आओ बैठो।'

कमरे के एक कोने में टी. वी. चल रहा था और थोड़ी दूर पर दीवार से लगे दो पलंग कोण बनाते हुए बिछे थे, साथ-साथ नहीं। एक पर शाल में लिपटे बैठे थे नाना और दूसरे पलंग पर नानी। मुझे देखते ही सजा से छूटे हुए बच्चों की तरह दोनों जोर से बोल उठे, 'अरे बबुआ, कित्ते दिनों बाद आया रे! हम बुन्नो से कहते थे, कई साल हो गये बबुआ नहीं आया, पर आएगा जरूर। घर की मिट्टी का मोह छोड़ सके है कोई? और वह भी हमारा बबुआ?

मैंने झुक कर दोनों को प्रणाम किया और कुर्सी पर आ कर बैठ गया। पार्वती चाय ले आई। नानाजी ने हसरतभरी नजरों से मेरे कप की ओर देखा। मौसी ने कहा, 'अभी चाय की सोचो भी मत, थोड़ी ही देर में तुम दोनों के दूध पीने का टाइम हो जाएगा, बाऊजी।'

नाना ने झट से अपनी नजरें टी. वी. की ओर से फेर लीं। नानी ने गुस्से से भरकर नाना की ओर देखा और बड़बड़ाने लगी, 'जितनी उमर बढ़ रही है, चटोरापन उस से दुगुना बढ़ रहा है।'

'अम्मा, टी. वी. बंद कर दूं? ध्यान तो तुम्हारा बाऊजी की तरफ लगा है।'

नानी ने पूरा ध्यान लगा कर टी. वी. देखना शुरू किया। कितनी उम्र होगी दोनों की? नाना की छियासी-सत्तासी और नानी की बयासी-तिरासी? इतनी तो होगी ही। मैंने अपना लाखों बार पूछा, पुराना प्रश्न दोहराया, 'मौसी किस के लिए बुन रही हो?'

'बाऊजी के लिए।'

'मंकी कैप, बंदर टोपी बुन रही है बाप के लिए। ठंड से मेरी उंगलियों में दरद हो जाए है, कित्ती बार कहा, मेरे लिए दस्ताने बुन दे, तो सुन कर भी अनसुनी कर देवे है।'

'अम्मा, दस्ताने तुम्हारे पास हैं, पिछले साल ही तो बुने थे।'

'हैं? फट नहीं गए? उन्हीं को पहने सारा काम नहीं करना पड़ता?' नानी ने शिकायतभरे स्वर में कहा।

'पूछो न इसे, कौन-सा चौका बर्तन करती है?' नाना ने टोका।

मौसी एकदम उठ खड़ी हुई और नाना-नानी दोनों घबरा कर एकदम चुप हो कर टी. वी. में आंख गड़ाए बैठ गए। नानी ने धीमी सहमी आवाज में कहा, 'बंद न करियो टी. वी.। अभी घरेलू नुस्खों का पुरोगराम आएगा।'

सुनते ही नाना मुंह लपेट कर लेट गए। मौसी मुस्कराई और कहा, 'चल बबुआ, दूसरे कमरे में बैठते हैं। कितनी बातें करनी हैं तुझसे। मझली और छोटी मौसी के क्या हाल हैं? आती हैं हर साल?'

'हर साल कहां? बच्चों के अपने प्रोग्राम रहते हैं और उन लोगों की भी तो उमर हो चली है। सफर की धकापेल अब सहती है कहीं?'

बड़े कमरे से बहस की आवाज आई। मौसी बुनाई रख कर अंदर गई। नाना-नानी को डांटा, 'क्या बचपना है?' टी. वी. को थोड़ा एडजस्ट किया और फिर आ कर मेरे पास बैठ गई।

'एक मिनट शांति से नहीं रहते। मैं न रहूं तो ये तो लड़-लड़ के ही मर जाएं।

इतने में पार्वती दो गिलास दूध लेकर मौसी के सामने खड़ी हो गई। मौसी ने कहा, 'ज्यादा चीनी तो नहीं डाली?'

'आधा-आधा चम्मच।'

'ठीक है, जा दे आ', फिर जोर से बोलीं, 'अम्मा-बाऊजी, दूध पी लो, ठंडा मत कर देना। फिर रात को नींद देर से आएगी, हां।'

ठीक ऐसे ही बचपन में अम्मा भी कहती थीं, 'बबुआ-मुन्नी, गाय का गरम दूध पी लो, नहीं तो नींद ठीक से नहीं आएगी।'

'मौसी, रिटायरमेंट के बाद खाली-खाली नहीं लगता?'

'कहां रे, समय ही नहीं मिलता। सुबह से इन दोनों के ही इतने काम हो जाते हैं, आजकल तो बुनाई भी सिर्फ शाम को ही कर पाती हूं।

अचानक टी. वी. की आवाज बहुत मद्धिम हो गई।

'बुन्नो, जरा इधर आइयो।' नानी की आवाज।

'कोई जरूरत नहीं बुन्नो, तू बातें कर बबुआ से,' नाना की आवाज।

'बाऊजी की पसंद का प्रोग्राम नहीं आ रहा होगा। इसीलिए धीमा कर दिया होगा। बच्चों से भी बढ़ कर हैं दोनों,' मौसी हंसी—शांत निश्छल हंसी, कोई मलाल नहीं, कोई शिकायत नहीं। मौसी के हाथ की सलाइयां अब भी चल रही थी धीमे-धीमे। ❖

धर्म और धर्मग्रंथ अथवा शास्त्र में अंतर है। धर्म सनातन है और इसी अर्थ में सत्य ही आधारभूत धर्म है। इसलिए परम सत्य को जानना ही परम धर्म है। किंतु परम सत्य का ज्ञान मात्र बुद्धि के द्वारा संभव नहीं है। क्योंकि बुद्धि स्वयं उस परम सत्य का एक अवयव है। अंश अंशी को नहीं जान सकता है। परम सत्य का ज्ञान तो आत्मज्ञान की विशिष्ट साधना-बुद्धि से ही संभव है और इसके लिए गुरु की आवश्यकता है। जब तक गुरु न मिले अथवा यदि कभी भी बाहरी गुरु न मिलें तो भी, अपने अंतःकरण में स्थित परम गुरु परमात्मा की शरण में जाने से वे स्वयं परम सत्य का ज्ञान यथासमय प्रदान करते हैं। उसके लिए चलने वाली साधना ही आत्मसाधना है और आत्मसाधना के निर्देशक ग्रंथ ही शास्त्र हैं। और इसीलिए शास्त्र भी परम नहीं हैं। परम सत्य तो शास्त्रों से भी परे है और कितना भी महिमामय शास्त्र हो, साधक उसका सच्चा अर्थ अपने आंतरिक प्रकाश के अनुरूप ही जान सकता है।

—रामेश्वर मिश्र 'पंकज'

मनोहर बंद्योपाध्याय की कविताएं

त्याग

बहुत मुश्किल होता है
तप करना
यज्ञ करना
यज्ञ में
'मैं' की आहुति देना।

केवल क्षय कर देने के लिए
अपना सर्वस्व
यज्ञ की अग्नि में
समर्पित कर देना
बहुत मुश्किल होता है।

बहुत मुश्किल होता है
तलाशना
उस अग्नि के धुएं में
उसे
जो पूर्ण करता है जीवन
और देखना
उस की रोशनी में
उस सत्य को
जो केवल
त्याग में लक्षित होता है।

बहुत मुश्किल होता है
यह सब कर गुजरना।

अंत

अंत आने से
अंतराल को समझना
मुश्किल नहीं होता।

कई अंतरालों के बाद
आता है अंत
और तब
सब-कुछ सुलझ जाता है।

प्रकाश की उष्णता में
घुल अनायास जाता है
संशय का अंधकार।

साफ-साफ नजर आता है
तब सब-कुछ।

कौन टाल सकता है
अंत को अनंत तक
या कर सकता है
सत्य को गुमराह
अंतराल के विराम से!

❖

अंग्रेजी से **स्वयं कवि** द्वारा अनूदित

शीलन

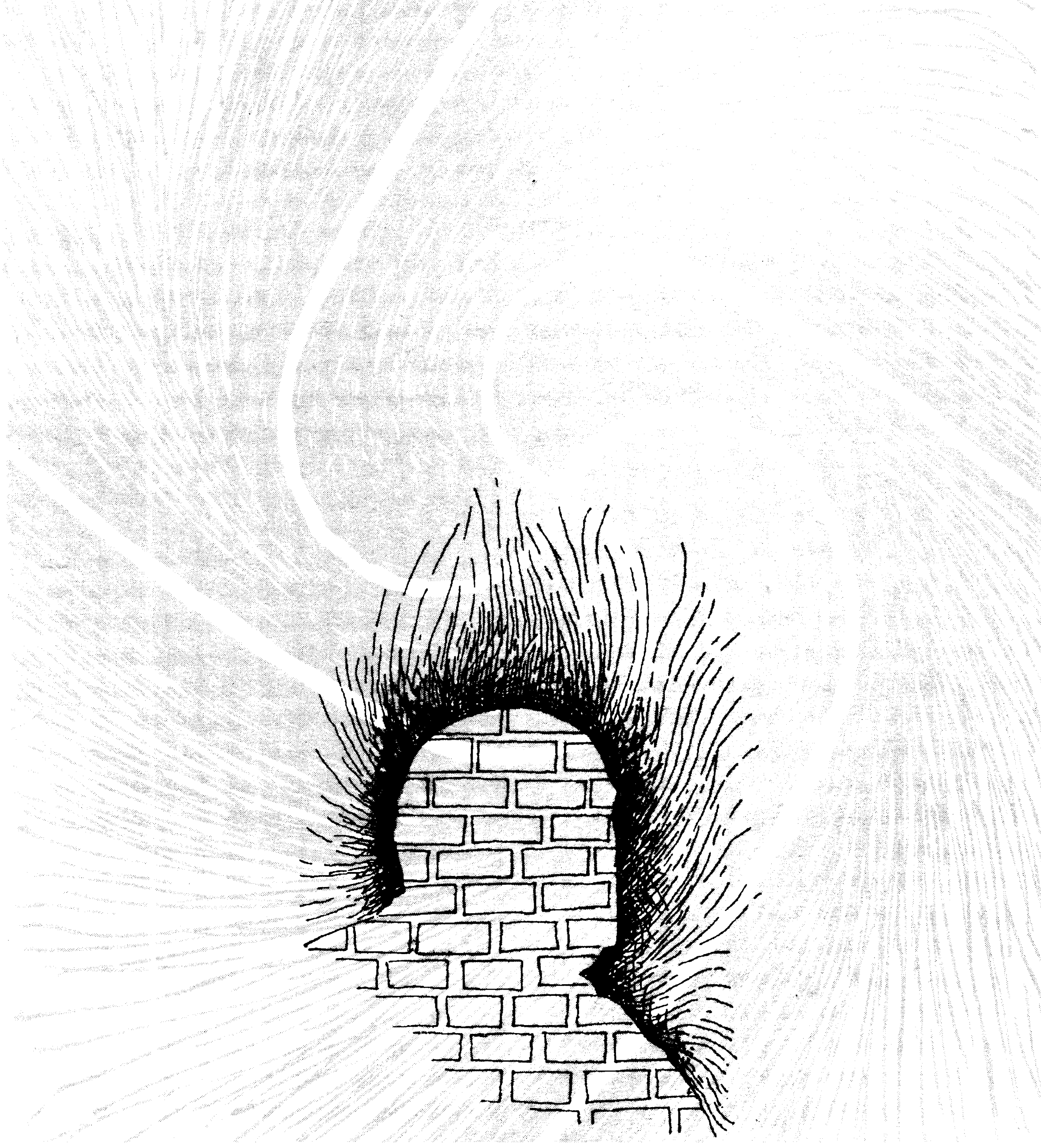

ब्रह्मचारी, परिव्राजक, संन्यासी—इन सबके हाथों में दंड रहना चाहिए। दंडधारी होने का बड़ा गूढ़ अर्थ है। जिस प्रकार दंड सरल होता है—वह टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होता, झुकता नहीं है—उसी प्रकार मोह के आगे गरदन नहीं झुकानी चाहिए। यदि काम-क्रोध सामने आएं, तो उन्हें भगा देना चाहिए। ब्रह्मचारी और संन्यासी को किसी की खुशामद नहीं करनी चाहिए। वे ध्येयनिष्ठ रहेंगे। ध्येय को नहीं छोड़ेंगे। ध्येय कभी समझौता नहीं करता। सत्य कभी समझौता नहीं करता। गृहस्थाश्रम में सारे समझौते हैं। गृहस्थाश्रम का अर्थ है—थोड़ा आपका, थोड़ा मेरा। लेकिन ब्रह्मचर्य और संन्यास का अर्थ तो है—प्रखरता। वहां 'त्वया अर्धं मया अर्धं' जैसा बाजार नहीं होता। वहां सारे काम सीधे-सरल होते हैं। ब्रह्मचर्य और संन्यास की गरदन केवल ध्येय के सामने ही झुकेगी। गुरु मानो ध्येय-मूर्ति है। उनके सामने ही वह झुकेगा। दूसरे किसी के सामने वह नहीं झुकेगा। यह ब्रह्मचर्य और संन्यास का प्रज्वलित तेज है। इस तेज के सामने संसार झुक जाएगा। वह उसके चरणों में गिर जाएगा।

—पांडुरंग सदाशिव साने

आधुनिक विज्ञान भी 'क्वांटम' के आधार पर आंतरिक भावों का उल्लेख कर रहा है। हमारे भीतर असीम आनंद का सागर लहरा रहा है। उसकी अनुभूति तब तक नहीं कर सकते, जब तक इंद्रिय संवेदनजन्य सुखैषणा की आसक्ति नहीं मिट जाती। संवेदना औदयिक भाव रूप है। आंतरिक आनंद की अभिव्यक्ति क्षयोपशम के सदृश है। इससे सिद्ध है कि भौतिक विज्ञान के चरण भी अध्यात्म की ओर आगे बढ़ रहे हैं।

भाव-जगत् : स्वरूप और मीमांसा

✍ साध्वी गवेषणा (कौप्पल)

भाव का जगत् बहुत बड़ा है। भाव के शाब्दिक अर्थ के लिए—भावो अंतःकरणस्य प्रवृत्तिः विशेषः[1]—अंतःकरण की प्रवृत्ति, हलचल, विचारों की लहरें—भाव हैं। इसे अभिप्राय भी कहते हैं।[2]

भाव का पारिभाषिक अर्थ है—कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाली जीव की अवस्था।[3]

भाव से विचार और विचार से क्रिया। क्रिया स्थूल है। विचार उससे सूक्ष्म है और भाव उससे भी सूक्ष्म है। क्रिया और विचार दोनों स्नायविक प्रेरणाएं हैं। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं, वह स्थूल शरीर से परे चेतना-केंद्र की प्रवृत्ति है।

आत्मा का अस्तित्व निरपेक्ष है। ज्ञान-दर्शन, आनंद एवं शक्ति रूप आत्मा का स्वभाव है। कर्म के संयोग से आत्मा का शुद्ध स्वरूप आवृत, विकृत एवं अवरुद्ध करता रहता है। चेतना का ऊर्ध्वारोहण प्रतिहत हो जाता है। कर्म का उदय आत्मा के विकास को रोकता है तो क्षायोपशमिक भाव विकास के द्वार खोलता है। उदय और क्षयोपशम भाव में संघर्ष अनवरत चलता रहता है। व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक व्यक्तित्व के निर्माण में दोनों का हाथ है।

उमास्वाति के शब्दों में—'भावो जीवस्य स तत्त्वं'—भाव जीव का स्वरूप है। जैन दर्शन में पांच भाव बतलाए गए हैं। (1) उदय (2) उपशम (3) क्षय (4) क्षयोपशम (5) पारिणामिक।

उदय

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुकूल कर्म का फल उदय कहलाता है। जीव में कर्म के उदय से होने वाले रागादि भाव तथा गति, जाति, लेश्या आदि परिणाम औदयिक भाव हैं।

उपशम

कुछ समय के लिए कर्म के उदय-प्रवाह का रुक जाना उपशम है। कर्म के विपाकोदय एवं प्रदेशोदय का सर्वथा अभाव उपशम अवस्था है। उपशम में मोहनीय कर्म का न क्षय होता है न उदय : उपशम हो जाता है। किंतु उसकी सत्ता विद्यमान है।

क्षायिक

कर्म का आत्मा से सर्वथा विलग हो जाना 'क्षय' है। कर्मों के क्षय से अनंत चतुष्टय आदि आत्म-गुणों का प्रकट हो जाना क्षायिक भाव है। क्षय की अवस्था बारहवें गुणस्थान से प्राप्त होती है।

क्षयोपशम

क्षयोपशम—क्षय और उपशम इन शब्दों से निष्पन्न है। क्षयोपशम की विद्यमानता में क्षय और प्रदेशोदय तथा मंद विपाकोदय चलता रहता है।

धवला में क्षयोपशम की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—सर्वघाती स्पर्धक अनंतगुणहीन होकर देशघाती स्पर्धक में रूपांतरित हो उदय में आता है, उस सर्वघाती स्पर्धक का अनंतगुणहीन होना ही क्षय है तथा उनकी देशघाती स्पर्धक के रूप में अवस्थिति उपशम है। इस प्रकार क्षय और उपशम से संयुक्त उदय 'क्षयोपशम' कहलाता है।[4] जैसे कोद्रव धान को धोने से कुछ कोदों की मद-शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ अक्षीण। वैसे ही परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एक देश का क्षय एवं एक देश का उपशम ही क्षायोपशिमक भाव है।[5]

वर्तमान जीवन के निर्माण एवं संचालन में मुख्य भूमिका अदा करता है—क्षयोपशम। क्षायोपशमिक भाव

की स्थिति दीर्घकालीन है। आत्मा को विकास की ओर गतिशील रखने में क्षयोपशम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। निगोद आदि छोटे-बड़े सभी जीवों में न्यूनाधिक रूप में क्षयोपशम भाव की नियमा है।

क्षयोपशम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय—इन चार घाति कर्मों का ही होता है। साधना के विविध आयामों से क्षायोपशमिक भाव को प्रबल बनाया जा सकता है। अघातीकर्म का उदय या क्षय ही होता है, उपशम एवं क्षयोपशम नहीं होता। मोहनीय का पूर्ण उपशम होता है। कारण—मोहनीय कर्म-विकारक है, अतः उसका उपशम किया जा सकता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म-आवारक और अंतराय अवरोधक हैं, अतः उनका उपशम नहीं होता।

पारिणामिक भाव

कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से निरपेक्ष चेतनत्व आदि भाव पारिणामिक भाव हैं। पारिणामिक आत्मा का गुण है। औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक—ये सभी उसकी पर्याय हैं। परिणमन एक शक्ति है, जो कर्म के कारण इन चार रूपों में अभिव्यक्त होती है। वस्तु के अस्तित्व का आधार यही भाव है। यह स्वभावतः ही चलता रहता है, पारिणामिक भाव व्यापक, सर्वत्रव्यापी है। यह कर्मों के उदय-विलय तक ही सीमित नहीं है। वह कर्मातीत भी है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में भावों की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। मूलतः भाव पांच हैं, उनके उत्तर-भेद तिरेपन हैं, जैसे—

1. औदयिक भाव-21	:	4 गति, 4 कषाय, 3 लिंग, 6 लेश्या, 4 मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व 4+4+3+6+4=21
2. औपशमिक-2	:	उपशम सम्यक्त्व, उपशम चारित्र
3. क्षायिक-9	:	ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र
4. क्षायोपशमिक-18	:	4 ज्ञान, 3 अज्ञान, 3 दर्शन, 5 लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र तथा संयमासंयम 4+3+3+5+3=18
5. पारिणामिक भाव-3	:	जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व

उपर्युक्त पांच भावों के अतिरिक्त एक भाव आगम साहित्य में उपलब्ध होता है। वह है—'सान्निपातिक भाव।' यह स्वतंत्र भाव नहीं है। यह अनेक भावों के मिश्रण से निष्पन्न होता है। इसके द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी और पंचसंयोगी—इस प्रकार अनेकों वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं, जैसे—

द्विसंयोगी

1. औदयिक-औपशमिक (मनुष्य और उपशान्तमोह)
2. औदयिक-क्षायिक (मनुष्य और क्षीण कषाय) आदि।

त्रिसंयोगी

औदयिक-औपशमिक-क्षायिक (मनुष्य, उपशांतमोह, क्षायिक-सम्यग्दृष्टि)

औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक (मनुष्य, उपशांतमोह, मतिश्रुतज्ञानी) आदि।

चतुःसंयोगी

औदयिक - क्षायिक - क्षायोपशमिक - पारिणामिक (मनुष्य, क्षायिक-सम्यग्दृष्टि, पंचेंद्रिय और जीव) आदि।

पंचसंयोगी

औदयिक - औपशमिक - क्षायिक - क्षायोपशमिक-पारिणामिक (मनुष्य, उपशांतमोह, क्षायिक-सम्यक्दृष्टि, पंचेंद्रिय और जीव) क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी लेता है, तब ग्यारहवें गुणस्थान में यह स्थिति बनती है। विभिन्न विवक्षाओं से सान्निपातिक भाव के 26, 36 और 11 भेद बतलाए गए हैं।

कर्म बंध की प्रक्रिया में भावों का योगदान

उपशम आदि चार भाव कर्मबंध के निमित्त नहीं बनते। केवल औदयिक भाव ही बंध का हेतु है। औदयिक भाव में आठों कर्मों का योग है, किंतु कर्मबंध में हेतु मोहनीय कर्म से निष्पन्न औदयिक भाव ही है।

जैन दर्शन में इन पांच भावों की विस्तार से विवेचना उपलब्ध है। जैनेतर दर्शन में भी भावों के समकक्ष विचार समीक्षणीय हैं। पातंजल योगसूत्र में वर्णित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पांच क्लेशों को मोहनीय कर्म का उदय माना जा सकता है।

पातंजल में असंप्रज्ञात समाधि के दो प्रकार बताए हैं—भवप्रत्यय एवं उपायप्रत्यय। भवप्रत्यय समाधि की तुलना उपशम भाव से कर सकते हैं। उपायप्रत्यय समाधि योगियों के होती है। श्रद्धा, वीर्य आदि साधनों से क्लेशों

का क्षय करता हुआ साधक असंप्रज्ञात समाधि को पाता है। समाधिप्राप्ति के लिए किए गए पुरुषार्थ की क्षयोपशम और उसकी प्राप्ति की तुलना क्षायिक भाव से हो सकती है।

आधुनिक विज्ञान भी 'क्वांटम' के आधार पर आंतरिक भावों का उल्लेख कर रहा है। हमारे भीतर असीम आनंद का सागर लहरा रहा है। उसकी अनुभूति तब तक नहीं कर सकते, जब तक इंद्रिय-संवेदनजन्य सुखैषणा की आसक्ति नहीं मिट जाती। संवेदना औदयिक भाव रूप है। आंतरिक आनंद की अभिव्यक्ति क्षयोपशम के सदृश है। इससे सिद्ध है कि भौतिक विज्ञान के चरण भी अध्यात्म की ओर आगे बढ़ रहे हैं।

काल की अपेक्षा से विचार करने पर भावों के चार विकल्प हैं।

अनादि-निधन भाव

धर्म, अधर्म, आकाश, काल का क्रमशः गमन हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, अवगाहना हेतुत्व, परिणमन हेतुत्व और अभव्य जीवों का असिद्धत्व आदि।

अनादि-सांतभाव

भव्य जीव का असिद्धत्व, भव्यत्व, मिथ्यात्व आदि।

सादि-अनंतभाव

केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि।

सादि-सांतभाव

सम्यक्त्व से गिरकर पुनः मिथ्यात्व में चले जाना।

भावों की मीमांसा

औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—ये तीन भाव, भव्य-अभव्य सभी प्राणियों में निश्चित होते हैं।

औपशमिक और क्षायिक केवल भव्य जीवों को मिलता है।

औपशमिक भाव की स्थिति केवल अंतर्मुहूर्त की है।

मुक्तदशा में औदयिक भाव का अभाव है, वहां क्षायिक और पारिणामिक ही रहते हैं।

संसारी जीवों में कम-से-कम तीन और अधिकतम पांच भाव पाए जाते हैं।

भाव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

'भू' धातु से 'भाव' शब्द की निष्पत्ति दो रूपों में होती है—

भू+अच्—भावः भवति इति भावः—जो होता है वह भाव है।

भू+णिच्+अच् भावः भावयति इति भावः—जो भावना कराता है वह भाव है।

'कर्मतो जायते भावः भावात् कर्मापि सर्वदाः'—कर्म से भाव पैदा होते हैं और भाव से कर्म पैदा होते हैं।

भरतमुनि ने आठ स्थाई भाव, तैंतीस व्याभिचारी भाव, आठ सात्त्विक भाव—सभी को भाव के अंतर्गत समाविष्ट किया है। इन उनपचास भावों को काव्य रस की अभिव्यक्ति का हेतु माना है।[6]

नाट्य विज्ञान या काव्यरचना में भाव दो प्रकार के होते हैं—

प्रधान या स्थाईभाव तथा गौण या व्यभिचारी भाव।

स्थाईभाव और व्यभिचार भाव के अनेकों भेद हैं।

भाव मुख्यतः अनुभूति और प्रयत्न से युक्त मनोदशा है। यह मनोदशा विशिष्ट बाह्य-स्थितियों के संवेदन अन्यथा स्मृति या कल्पना के स्वतंत्र प्रत्ययों द्वारा जागृत की जाती है।[7]

यंग (Young) ड्रमंड मेलोन (Drummond Mellone) तथा शैंड (Shand) इन तीनों ने ज्ञान, भावना और संकल्प—तीनों मानसिक क्रियाओं को भाव के अंतर्गत लिया है। अंग्रेजी में भाव का पर्यायवाची 'इमोशन' (Emotion) है।

थामस, यंग आदि ने भाव के अंतर्गत क्रमशः ज्ञान, भाव व क्रिया में तीन प्रकार के अनुभवों—बोधमूलक, भावनात्मक और प्रेरणात्मक का समावेश किया है।

आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी कोश में भाव के अनेक अर्थ किए हैं[8]—

1. होना, घटित होना, घटना
2. स्थिति, अवस्था
3. दर्जा, स्थिति-पद-हैसियत[9]
4. यथार्थदशा, वास्तविकता।
5. सहजगुण, चित्तवृत्ति, प्रकृति, स्वभाव।[10]
6. मनोवृत्ति, झुकाव, भावना, विचार, मत, कल्पना।[11]
7. भावना, संवेग, रस या मनोभाव।[12]

भावों का वर्गीकरण

डेकार्ट ने भाव के दो रूप—मूल भाव और परतंत्र भाव कल्पित किए हैं। मौलिक भावों की संख्या 6 निर्धारित की है—

1. आश्चर्य, 2. प्रेम, 3. घृणा, 4. इच्छा, 5. हर्ष, 6. शोक।

भावों की अनुभूति

भाव की व्यापक परिधि में अनुभूति (Feeling), भावना (Sentiment), सहजप्रवृत्ति (Instinct) तथा मनोदशा (Mood) आदि भी अंतर्गर्भित हो जाते हैं।

भगवान महावीर ने राग-द्वेष—दोनों कर्म के बीज बताए हैं। कर्म मोह से उत्पन्न है, कर्म जन्म-मरण का मूल है, जन्म-मरण से दुख होता है।[13] राग-द्वेष में एक प्रीत्यात्मक अनुभूति है, दूसरी अप्रीत्यात्मक। राग के इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, शुद्धता, ममता, अभिनंदन, प्रसन्नता और अभिलाषा—ये सारे अभिवचन हैं।[14] द्वेष के पर्याय हैं—ईर्ष्या, रोष, परिवाद, मत्सर, असूर्या, वैर आदि।[15] राग-द्वेष के विस्तार हैं कषाय, उसके भेद-प्रभेद सब भाव के ही अन्तर्गत हैं। ये संवेग हैं, संवेग-नियंत्रण क्षायोपशमिक भाव है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलता है। पूछा गया—भाव-विशुद्धि से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—भाव विशुद्धि से जीव निर्भय बनता है और इससे स्वास्थ्य एवं मानसिक प्रसन्नता का रहस्य उपलब्ध करता है। ❖

संदर्भ सूची

1. सूत्रकृतांग श्रुत 1, 1/15 की टीका
2. आचारांग श्रुत 1, 2/5 की टीका भावश्चित्ताभिप्रायः
3. जै. सि. दी. 2/42
4. धवला 7/2, 1, 49/91/7
5. तत्त्वा रा. पा. 2/1/3
6. नाट्यशास्त्र 7, 9, 1
7. Elements of Psychology, Drummond Mellons, Chap vill, P. 219
8. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे
9. काव्य प्रकाश, 10
10. भगवद्गीता 10/8
11. पंचतंत्र 3/43, मनुस्मृति 8/25
12. पंचतंत्र 3/66
13. उत्तराध्ययन 32/6
14. प्रशमरति 18
15. प्रशमरति 19

❖❖

मैं नहीं जानता कि राजनीति, जिसके पास व्यवहार-बुद्धि का ठेका है, कहीं से कैसे कुछ सीख लेने को मजबूर की जा सकती है। लेकिन अगर भगवान भी है—और यदि हम सब अपने समय से मरते जाते हैं तो कुछ तो है जिसमें होकर काल समाप्त नहीं हो जाता, जीता ही जाता है—तो शायद कहीं से कुछ लेने के लिए मनुष्य के पास सदा ही सुविधा है। और वहां से इस श्रद्धा की मांग की जा सकती है कि मृत्यु जब अनायास और अकुंठित भाव से सबको अपने-अपने समय से मिलती ही जाती है तब अपनी ओर से हम उस मृत्यु या किसी को दान करना अनाधिकार चेष्टा मानें। मरना-जीना तो लगा ही है, पर मारने के लिए आगे बढ़ते हैं तो हम कुछ भी और नहीं करते हैं, सिर्फ मानवता की रक्षा की हठ में दानवता पर ही आ उतरते हैं। ऐसे स्वतंत्रता और समता की उलझन सुलझती है, सुखी का सुख बढ़ता, या दुखी का दुख घटता है; यह मानना रेत में से प्यास बुझाने के समान है।

—जैनेंद्रकुमार

हमारी चेतना में असंख्य अज्ञात संस्कार भरे हुए हैं। जब भी अनुकूल निमित्त मिलते हैं, वे फिर जागृत हो जाते हैं। सत्य-साधक के लिए भी वह एक विकट समस्या है। जब दबे हुए असत्य के संस्कार जागृत होते हैं, तब सत्य के माहात्म्य का ज्ञान और सत्य का संकल्प दमित हो जाता है। व्यक्ति सत्य-पथ से पतित हो जाता है। स्पष्ट है कि अंतर्भावों में सत्य का अवतरण हुए बिना बाह्य उपचार चिरस्थाई नहीं होते। पूर्वाचार्यों ने इस समस्या के समाधान के लिए भावना की खोज की। जिन आत्मगुणों का विकास करना है, उन्हें बार-बार दोहराकर आत्मा को उनसे भावित करने को 'भावना' कहते हैं। इससे आंतरिक मूर्च्छा का वलय टूटता है और भावधारा में परिवर्तन आता है।

सच्चमेव समभिजाणाहि

✍ मुनि विनोदकुमार 'विवेक'

धर्म के जितने भेद-प्रभेद अलग-अलग संप्रदायों द्वारा व्याख्यायित हुए हैं, उनमें सत्य का स्थान प्रमुख है। सभी ने असत्य का निषेध किया है।[1] भगवान महावीर ने तो सत्य को लोक का सारभूत तत्त्व बताते हुए उसे भगवान की उपमा दी है।[2] सत्य को सर्वाधिक महत्त्व देने का कारण यह है कि इसकी आराधना के बिना शेष सारे धर्म, नियम आदि की आराधना संभव ही नहीं है।

एक श्रावक ने मृषावाद को छोड़कर सभी अणुव्रत ग्रहण किए। कुछ समय पश्चात् वह एक-एक कर सभी व्रत तोड़ने लगा। जब उसके मित्र ने कहा—तुम ग्रहण किए हुए व्रतों को क्यों तोड़ रहे हो?'

वह बोला—'नहीं तो, मैं व्रतों को कहां तोड़ रहा हूं?'

मित्र—'तुम झूठ बोलते हो।'

उसने कहा—'मैंने झूठ बोलने का त्याग कब किया था?'

इस प्रकार सत्य व्रत के अभाव में उसने सारे व्रत तोड़ डाले।[3] तात्त्विक दृष्टि से भी साधना का उद्देश्य सत्य की खोज ही होता है। इसलिए आवश्यक है—सत्य को जानना और इसे जीना।

सत्य का अर्थ

यथार्थ का प्रतिपादन करना अर्थात् जो जैसा है, उसका उसी रूप में प्रतिपादन करना सत्य कहलाता है। 'आचारांग भाष्यम्' में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सत्य के अर्थ इस प्रकार बतलाए हैं[4]—

(1) सत्—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है—वह सत् है। यहां 'सत्' शब्द अस्तित्वात्मक सत्य का वाचक है। (2) सद्भाव। (3) तत्त्व—द्रव्य का यथार्थ स्वरूप। (4) तथ्य। (5) सार्वभौम नियम। (6) भूतोद्भावन। (7) संयम। (8) काय, भाव और भाषा की ऋजुता तथा अविसंवादन योग। (9) यथार्थ वचन। (10) अगर्हित वचन। (11) व्यवहाराश्रित वचन। (12) प्रतिज्ञा।

सत्य के प्रकार

सत्य अनंत है। इसलिए संपूर्ण सत्य को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अर्हत् भी नहीं कह सकते। क्योंकि उनका आयुष्य भी समयसापेक्ष होता है। व्यवहार में हम जिस सत्य की चर्चा करते हैं—वह सत्यांश है, ससीम है। संपूर्ण सत्य तो एक ही है, उसे बांटा नहीं जा सकता। परंतु व्यावहारिक सत्य, जिसे हम वचन के रूप में प्रयुक्त करते हैं—आगमों में उसके दस भेद बतलाए गए हैं।[5]

(1) **जनपद सत्य**—जिस क्षेत्र (प्रदेश, जनपद) में जिस शब्द का जो अर्थ प्रचलित है, उस क्षेत्र में वह जनपद सत्य है। जैसे—'चोखा' शब्द मारवाड़ में 'अच्छे' के अर्थ में, मेवाड़ में 'चावल' के अर्थ में तथा बिहार में 'आलू' आदि को भूनकर बनाई गई सब्जी के अर्थ में प्रचलित है।

(2) **सम्मत सत्य**—प्राचीन आचार्यों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है या जिस अर्थ में जो शब्द लोक-

सम्मत हो जाता है, उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य कहलाता है। जैसे—शैवाल, कुमुद, कमल, मेंढक आदि पंक (कीचड़) में ही उत्पन्न होते हैं, तो भी पंकज शब्द कमल के लिए ही प्रचलित है, अन्य के लिए नहीं।

(3) **स्थापना सत्य**—किसी भी वस्तु की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। जैसे—शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना या कागज के नोटों की छाप (रचना-विशेष) देखकर कहना कि यह '100' का नोट है, यह '50' का नोट है आदि।

(4) **नाम सत्य**—गुणविहीन होने पर भी किसी व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष का वैसा नाम रखकर उसे उस नाम से पुकारना। जैसे—अचक्षु व्यक्ति का 'नयनसुख' नाम रखकर उसे उस नाम से पुकारना।

(5) **रूप सत्य**—किसी रूप-विशेष को धारण करने पर उस रूप-विशेष से पुकारना रूप सत्य है। जैसे—साधु का वेश धारण करने वाले गृहस्थ को साधु कहना।

(6) **प्रतीति सत्य (अपेक्षा सत्य)**—जो किसी अपेक्षा से सत्य हो, वह प्रतीति सत्य या अपेक्षा सत्य है। जैसे—अनामिका अंगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना।

(7) **व्यवहार सत्य**—व्यवहार में जो बोली प्रचलित हो जाती है, वह व्यवहार सत्य है। जैसे—'यह सड़क दिल्ली जाती है।' सड़क तो जहां है, वहीं स्थिर है। फिर भी यह व्यवहार सत्य है।

(8) **भाव सत्य**—जिस वस्तु में जिस भाव की मुख्यता रहती है, उसे लेकर उसका प्रतिपादन करना भाव सत्य है। जैसे—तोते में हरे रंग की प्रधानता होने के कारण कई रंग होने पर भी उसे हरा कहना।

(9) **योग सत्य**—योग अर्थात् किसी वस्तु-विशेष के संबंध से किसी व्यक्ति-विशेष को उस नाम से पुकारना। जैसे—छत्र धारण करने वाले को छत्री कहना, भले ही शब्द-प्रयोगकाल में उसके पास छत्र न हो।

(10) **उपमा सत्य**—किसी एक बात में समानता होने पर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना। जैसे—किसी व्यक्ति के हृष्ट-पुष्ट शरीर की दारासिंह पहलवान से तुलना कर उसे दारासिंह नाम से पुकारना उपमा सत्य है।

प्रकारांतर से सत्य के चार प्रकार हैं। सत्य केवल वचन तक ही सीमित नहीं है—इसका क्षेत्र बड़ा विराट है। मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति से इसका संबंध है। इस समग्रता की दृष्टि से सत्य निम्न चार प्रकार का होता है।[6]

(1) **काय-ऋजुता**—यथार्थ को अभिव्यक्त करने वाले काया के संकेत काय-ऋजुता अर्थात् काय सत्य हैं।

(2) **भाषा-ऋजुता**—यथार्थ को अभिव्यक्त करने वाले वाणी के प्रयोग भाषा-ऋजुता के अंतर्गत आते हैं।

(3) **मन (भाव)-ऋजुता**—मन का यथार्थ चिंतन या भावों का यथार्थ अध्यवसाय मन (भाव)-ऋजुता सत्य कहलाता है।

(4) **अविसंवादना योग**—अविरोधी, धोखा न देने वाली या प्रतिज्ञात अर्थ को निभाने वाली प्रवृत्ति अविसंवादना योग है। कथनी और करनी की एकरूपता इसका व्यावहारिक रूप है।

सत्य के निक्षेप

जैन दर्शन में किसी तत्त्व को समग्र रूप से समझने के लिए निक्षेप विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार सत्य के चार प्रकार इस तरह से हो सकते हैं[7]—(1) नाम सत्य (2) स्थापना सत्य (3) द्रव्य सत्य (4) भाव सत्य।

सत्य के लक्षण

समवाओ सूत्र में सत्य वचन के पैंतीस अतिशय—विशेष गुण या लक्षण बताए हैं।[8] जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सत्य का क्षेत्र बड़ा विराट है। यह इससे भी सिद्ध होता है कि यहां केवल सत्य वचन के ही पैंतीस लक्षण बताए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन पैंतीस गुणों से युक्त होने पर ही सत्य वचन की पूर्णता है। ये अतिशय भी दो विभागों में विभक्त हैं—(1) शब्दाश्रयी अतिशय (2) अर्थाश्रयी अतिशय।

शब्दाश्रयी अतिशय के भी सात प्रकार हैं—

(1) संस्कारवत्—व्याकरणशुद्ध वचन अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होना।

(2) उदात्त—उदात्त स्वर वाला वचन अर्थात् स्वर का ऊंचा होना।

(3) उपचारोपेत—अग्राम्य वचन।

(4) गंभीर शब्द—गंभीर वचन।

(5) अनुनादि—प्रतिध्वनि उत्पन्न करने वाला वचन।

(6) दक्षिण—सरल वचन।

(7) उपरीत राग—मालकोश आदि रागों से युक्त वचन अर्थात् स्वर में ऐसी विशेषता होना कि श्रोताओं में व्याख्येय विषय के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न हों।

अर्थाश्रयी अतिशय को हम निम्नानुसार प्रकारों में देख सकते हैं—

(1) महार्थ—महान अर्थ वाला वचन।

(2) अव्याहतपौर्वापर्य — पौर्वापर्य — अविरोधी वचन।

(3) शिष्ट—अभिमत—सिद्धान्त का प्रतिपादक वचन अथवा शिष्ट वचन।

(4) असंदिग्ध—संदेहरहित वचन।

(5) अपहृतान्योत्तर—प्रतिपक्ष द्वारा निकाले जाने वाले दोष से मुक्त वचन।

(6) हृदयग्राही।

(7) देशकालाव्यतीत—प्रसंगोचित वचन।

(8) तत्त्वानुरूप—विवक्षित वस्तु-स्वरूपानुसारी वचन।

(9) अप्रकीर्णप्रसृत—सुसंबद्ध, अधिकृत और संक्षिप्त वचन।

(10) अन्योन्यप्रगृहीत—परस्पर सापेक्ष वचन।

(11) अभिजात—वक्ता अथवा प्रतिपाद्य अर्थ की भूमिका के अनुरूप वचन।

(12) अतिस्निग्धमधुर—स्नेह और माधुर्यपूर्ण वचन।

(13) अपरमर्मभेदी—पर-मर्म का प्रकाशन न करने वाला वचन।

(14) अर्थधर्माभ्यासानपेत—अर्थ और धर्म के अभ्यास से प्रतिबद्ध वचन।

(15) उदार—अभिधेय अर्थ के गौरव से युक्त वचन।

(16) पर-निन्दा—आत्मोत्कर्ष-विप्रयुक्त।

(17) उपगतश्लाघ—श्लाघनीय वचन।

(18) अनपनीत—कारक, काल, लिंग, वचन आदि के प्रत्यय रूप दोषों से मुक्त वचन।

(19) उत्पादिताछिन्नकौतूहल — श्रोतृगण में अविच्छिन्न कुतूहल उत्पन्न करने वाला वचन।

(20) अद्भुत।

(21) अनतिविलम्बित—धाराप्रवाही वचन।

(22) विभ्रमादिविमुक्त—

विभ्रम—वक्ता के मन की भ्रांति।

विक्षेप—वक्ता की अभिधेय अर्थ के प्रति अनासक्तता।

किलिकिंचित्—दोष, भय, अभिलाषा आदि मानसिक भावों का प्रदर्शन। उक्त दोषों तथा इस कोटि के अन्य मानसिक आवेगों से जनित दोषों के संस्पर्श से मुक्त वचन।

(23) अनेकजातिसंश्रयाद् विचित्र—अनेक जातियों (वर्णनीय वस्तु के रूप का वर्णन) के संश्रयण से विचित्र वचन।

(24) आहितविशेष—सामान्य वचन की अपेक्षा विशेषता-संपन्न वचन।

(25) साकार—विछिन्न वर्ण, पद और वाक्य के द्वारा आकार प्राप्त वचन।

(26) सत्त्वपरिग्रह—साहसपूर्ण वचन।

(27) अपरिखेदित—अनायास निकला हुआ वचन।

(28) अव्युच्छेद—विवक्षित अर्थ की सिद्धि होने तक अनवच्छिन्न प्रवाह वाला वचन।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त भाषा विज्ञान का सार सत्य वचन के उपरोक्त लक्षणों में समाहित हो जाता है। केवल यथार्थ प्रतिपादन करना मात्र ही सत्य नहीं है, उसमें उपरोक्त गुणों का होना भी अति अनिवार्य है।

सत्य की उपलब्धियां : परिणाम

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रत्येक कार्य की कोई निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार सत्य का प्रयोग भी उपलब्धियुक्त होता है। सत्य की प्रवृत्तियां तीन प्रकार की होती हैं—(1) भाव सत्य (2) करण सत्य (3) योग सत्य। इन तीनों की उपलब्धियां भी भिन्न-भिन्न मानी गई हैं—

(1) **भाव सत्य**—इसका अर्थ है—अंतरात्मा की सचाई। भाव सत्य से जीव-भाव की विशुद्धि उपलब्ध करता है। भाव-विशुद्धि होने पर जीव अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तत्पर होता है। इससे उसे परलोक में भी धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है।[9]

(2) **करण सत्य**—वैसे तो करण सत्य का संबंध योग सत्य से है, क्योंकि करण का अर्थ है—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। फिर भी करने की विशेष स्थिति को लक्ष्य कर उसे योग सत्य से पृथक बतलाया गया है। यहां करण सत्य का अर्थ है—विहित कार्य को सम्यक् प्रकार से तन्मय होकर करना। इसमें जीव जैसा कहता है, वैसा करता है। करण सत्य से जीव करण-शक्ति (अपूर्व कार्य करने की क्षमता) को प्राप्त करता है।[10]

(3) **योग सत्य**—योग सत्य का अर्थ है—मन-वचन-काया की सचाई। इससे जीव मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।[11]

सत्य वचन एक प्रकार की भाषा समिति है जो कि शुभ योग है। इसका प्रयोग कर्म-निर्जरा का हेतु है। इसलिए यह आत्मशुद्धि का मार्ग है। तप के तीन भेद बताए जाते हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। सत्य वाचिक तप है।[12] इसके अलावा व्यवहार में भी सत्यवादिता के अनेक लाभ होते हैं—जैसे वह निर्भय और निश्चिंत रहता है तथा वह लोक में पूजनीय और विश्वसनीय बन जाता है।[13]

सत्य की सापेक्षता : (कसौटियां)

भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। इनमें असत्य और मिश्र का तो सर्वथा वर्जन ही है। सत्य और व्यवहार भाषा भी सापेक्षता के साथ वक्तव्य है। संक्षेप में इसकी तीन कसौटियां हैं[15]—

(1) **अनवद्य**—सत्य वही वक्तव्य है जो अनवद्य हो, अर्थात् हिंसा आदि अठारह पापकारी प्रवृत्तियों से विमुक्त हो। अहिंसा का व्यावहारिक क्षेत्र बड़ा जटिल है। इसमें कहां, क्या बोलना और कहां मौन रखना—इसका विवेक अत्यावश्यक है। सभी स्थानों पर एक ही नियम लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'प्राणी वध्य है'—एक अहिंसक ऐसा कह नहीं सकता, किंतु कुछ परिस्थितियों में 'यह अवध्य है'—ऐसा कहना भी व्यवहारसंगत नहीं होता। इसलिए ऐसे स्थान पर उसे मौन रहना पड़ता है। सिंह आदि हिंसक जंतु, चोर, पारदारिक आदि उपद्रव कर रहे हैं। इन्हें मारने का विचार कर कोई पूछे 'इन्हें मारूं या नहीं?' 'इन्हें मारो'—यह कहने से हिंसा का अनुमोदन होता है और 'मत मारो'—यह कहने से हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि का अनुमोदन होता है। वाणी के अनवद्य प्रयोक्ता के लिए ऐसे प्रसंगों पर मौन ही श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार, हिंसा आदि सावद्य प्रवृत्तियों की प्रेरणा देने वाला, अनुमोदन-आदेश करने वाला सत्य वचन भी अवक्तव्य है।

(2) **मृदु**—अगस्त्यसिंह के अनुसार—'सत्य वही है जो दूसरों का उपघात नहीं करता'।[15] ऐसी बात जो सत्य होते हुए भी किसी के मन को चोट पहुंचाए, वक्तव्य नहीं होती। जैसे—काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, चोर को चोर कहना। यद्यपि यह असत्य कथन नहीं है, किंतु ये वचन मन को चोट पहुंचाते हैं। इसलिए सत्य होते हुए भी वक्तव्य नहीं हैं।[16]

जो व्यक्ति कटु सत्य बोलता है, उसे इसके अनेक दुष्परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। अनावश्यक कलह आदि दुख उत्पन्न होने पर उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है।[17]

(3) **संदेहरहित**—'एक शब्द या शब्द-विन्यास के अनेक अर्थ हो सकते हैं। इसलिए जिस संदर्भ में बोलना हो, उसी संदर्भ में स्पष्ट और सरल भाषा में बोला गया सत्य ही काम्य है।' इसका अर्थ 'यह है' या 'यह'—इस प्रकार जो बात संदेह उत्पन्न करती है—वह सत्य भी अवक्तव्य है।

इस प्रकार सत्य की वक्तव्यता भी सापेक्षता के सिद्धांत से निरपेक्ष नहीं है। सत्य वही वक्तव्य है जो उपरोक्त कसौटियों पर खरा उतरता हो तथा सत्य के लक्षणों से युक्त हो।

सत्य का अभ्यास कैसे करें

केवल आदर्श के उपदेश पर्याप्त उपयोगी नहीं होते। उनको जीवन में उतारने की विधि का ज्ञान होना आवश्यक होता है। सत्य को जीया कैसे जाए, इस विधि की खोज आवश्यक है। यदि निम्नलिखित बिंदुओं का अभ्यास किया जाए तो हम सत्य की खोज के निकट पहुंच सकते हैं—

असत्य को भी समझें—

किसी भी विषय के समग्र ज्ञान के लिए उसके विधेयात्मक और निषेधात्मक—दोनों पक्षों को समझना आवश्यक है। सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, इसलिए जिस प्रकार हिंसा को समझे बिना अहिंसा का ज्ञान अधूरा है, उसी प्रकार असत्य को समझे बिना सत्य का ज्ञान भी अधूरा है। इसलिए सत्य को समझने के लिए असत्य को समझना भी महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। असत्य, असत्य के कारणों और उसके परिणामों को सम्यक्‌रूपेण समझ लेने से सत्य का यात्रा-पथ सुगम हो जाता है।

असत्य क्या है—

अयथार्थ का प्रतिपादन करना, अर्थात् जो सत्य के विपरीत स्वरूप वाला है वह सत्य है। असत्य भाषा भगवद्-आज्ञा की विराधक होने के कारण विराधनी भी कहलाती है। यह दस प्रकार की होती है[18]।

(1) क्रोध निश्रित—क्रोध के वशीभूत होकर असत्य बोलना। (2) मान निश्रित—अहंकार के आवेश में असत्य बोलना। (3) माया निश्रित—कपटसहित बोलना। (4) लोभ निश्रित—लोभ में आकर बोलना। (5) राग निश्रित—मोह के वशीभूत होकर बोलना। जैसे—किसी के प्रति अत्यंत रागवश कहना—'मैं तो आपका दास हूं।' (6) द्वेष निश्रित—द्वेषसहित बोलना। (7) हास्य निश्रित—हंसी में असत्य बोलना। (8) भय निश्रित—डरकर असत्य बोलना। (9) आख्यायिका निश्रित—कहानी कहते समय असंभव बातें कहना। (10) उपघात निश्रित—प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा बोलना या दूसरे के हृदय को उपघात (चोट) लगाने की दृष्टि से बोलना। जैसे—किसी को कहना—'तू चोर है' अथवा किसी को अंधा या काना कहना।

असत्य के भेद

तत्त्व प्रतिपादन के संदर्भ में मृषावाद के चार भेद इस प्रकार मिलते हैं[19]— (1) सद्भाव प्रतिषेध—जो है, उसके विषय में कहना कि—यह नहीं है। जैसे—जीव आदि हैं, उनके विषय में कहना कि जीव नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, बंध-मोक्ष नहीं है आदि। (2) असद्भाव उद्भावन—जो नहीं है, उसके विषय में कहना कि—यह है। जैसे—आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तंदुल के तुल्य कहना। (3) अर्थांतर—एक वस्तु को अन्य बताना, जैसे गाय को घोड़ा कहना आदि। (4) गर्हा—काने को काना कहना आदि।

असत्य का कारण

प्रत्येक कार्य के पीछे उसका कारण होता है। व्यक्ति को असत्य बोलने के पीछे भी प्रेरित करने वाला कोई-न-कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए। किसी भी समस्या के निराकरण के लिए उसके कारणों की खोज आवश्यक होती है। कारणों को हटाए बिना समस्या का स्थाई समाधान नहीं होता। इसी प्रकार असत्य से बचाव के लिए उसके कारणों की खोज और उनका निराकरण आवश्यक है।

असत्य बोलने के अनेक कारण हो सकते हैं। आवश्यक सूत्र और दशवैकालिक में असत्य के चार कारण बताए हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य।[20] दशवैकालिक सूत्र में ही अन्यत्र स्थान पर असत्य के छ कारण भी बताए हैं[21]—

(1) क्रोधहेतुक मृषावाद, (2) मानहेतुक मृषावाद, (3) मायाहेतुक मृषावाद, (4) लोभहेतुक मृषावाद, (5) भयहेतुक मृषावाद, (6) हास्यहेतुक मृषावाद।

प्राचीन आचार्यों ने असत्य के उपरोक्त कारणों को सांकेतिक माना है। वस्तुतः मनुष्य कषाय और नोकषाय की भावना से प्रेरित होकर ही असत्य बोलता है। इसलिए कषाय और नोकषाय के विभिन्न भेद ही असत्य बोलने के कारण होते हैं। संक्षेप में कहें तो असत्य बोलने का मूल कारण मोहकर्म का उदय है। इसलिए असत्य का संबंध इसी से संबंधित अनेक कारणों से होता है।

असत्य का परिणाम

प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई-न-कोई परिणाम होता है। शुभ प्रवृत्ति का परिणाम शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का परिणाम अशुभ होता है। किसी भी कार्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति उसके शुभाशुभ परिणामों के द्वारा अभिप्रेरित होती है। असत्य को छोड़ने के लिए भी उसके परिणामों का ज्ञान प्रेरित करता है। इसलिए उन्हें जानना आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र के वृत्तिकार नेमिचंद्र ने असत्य बोलने से होने वाले छ दोषों का वर्णन इस प्रकार किया है—

धर्महानिरविश्वासो देहार्थव्यसनं तथा।
असत्यभाषिणां निंदा, दुर्गतिश्चोपजायते।।[22]

असत्य भाषण के छ दोष हैं—(1) धर्म की हानि (2) अविश्वास (3) शारीरिक उत्ताप (4) अर्थ की हानि (5) निंदा (6) दुर्गति।

(1) **धर्म की हानि**—सत्य धर्म है और असत्य अधर्म। इसलिए असत्यभाषी को सत्य धर्म का लाभ नहीं मिल सकता। असत्य से पापकर्म का बंधन होता है—यह भी अपने-आप में धर्म की हानि है। जानबूझ कर (अभिमुखतापूर्वक) असत्य बोलना—शबल दोष माना जाता है, जो चारित्र को नष्ट करने वाला होता है।[23] कर्म की उत्तर प्रकृतियों में महामोहनीय कर्म अति कटुक फलदायक होता है। महामोहनीय कर्मबंधन के तीस कारण बतलाए गए हैं, जिनमें सात कारण असत्य भाषण से संबंधित हैं[24]—

(1) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष सत्यांग की ओट में बड़े-झूठ को छिपाने का प्रयत्न करना। (2) बाल ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने-आप को बाल-ब्रह्मचारी कहना। (3) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने-आप को ब्रह्मचारी कहना। (4) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आप को बहुश्रुत कहना। (5) अतपस्वी होते हुए भी अपने-आप को तपस्वी कहना। (6) देवदर्शन न होने पर भी 'मुझे देव दर्शन हो रहा है'—ऐसा कहना।

हास्य में भी थोड़ा-सा असत्य बोलने से कर्म का प्रगाढ़ बंधन होता है। इस प्रकार तीव्र अशुभ अध्यवसायों के साथ असत्य बोलने वाला निकाचित कर्मों का अर्जन कर सकता है। फलतः आत्म शुद्धि (अर्थात् धर्म) की उपलब्धि उसके लिए दुर्लभ हो जाती है।

(2) **अविश्वास**—जीवन-व्यवहार को सरलता के साथ चलाने के लिए विश्वास जरूरी होता है। विश्वास का आधार सत्य होता है। असत्य के प्रयोग से व्यक्ति अपनी विश्वसनीयता खो देता है।[25] अविश्वसनीय व्यक्ति स्वच्छ सामाजिक जीवन नहीं जी सकता।

(3) **शारीरिक उत्ताप**—यद्यपि मन-वचन और शरीर की प्रवृत्तियां अलग-अलग हैं, फिर भी इन तीनों का अंतर्संबंध होता है और ये एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। मन का असत्य चिंतन ही वचन के माध्यम से अभिव्यक्ति होता है। इससे व्यक्ति मानसिक रूप से चंचल और अशांत हो जाता है। यह मानसिक और वाचिक उत्ताप पैदा करता है और शारीरिक उत्ताप को बढ़ाता है। किसी का असत्य पकड़े जाने पर शारीरिक दंड भी मिल सकता है। असत्य का साम्राज्य चिरस्थाई नहीं होता। कभी-न-कभी असत्य का राज खुलता ही है। इसलिए एक असत्यभाषी को एक असत्य को छुपाने के लिए अनेक असत्य बोलने पड़ते हैं। असत्य को छुपाते रहने से उसके मानसिक तनाव बढ़ते हैं। फलतः मानसिक तनावजन्य अनेक शारीरिक बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए सच ही कहा है—'असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय व्यक्ति दुखी होता है और असत्य का फल भी दुखमय होता है।[26]

(4) **अर्थ की हानि**—आर्थिक दृष्टि से भी सत्य का बड़ा महत्त्व है। हो सकता है, असत्य के बल पर क्षणिक लाभ हो जाए, लेकिन अंततोगत्वा हानि ही होती है, क्योंकि काठ की हांडी दूसरी बार अग्नि पर नहीं चढ़ती। असत्यभाषी की साख नहीं रहती। इससे भी उसे आर्थिक हानि उठानी पड़ती है।

(5) **निंदा**—ठाणं सूत्र[27] में छ प्रकार के गर्हित वचन बोलने का निषेध है। उनमें एक है—अलीक वचन अर्थात् असत्य वचन। गर्हित वचन बोलने से बोलने वाले की गर्हा—निंदा होती है।

जितने भी धर्म-संप्रदाय हैं, उनके नियमों में कहीं-न-कहीं भेद संभव है, परंतु असत्य भाषण के संदर्भ में सबका मतैक्य है। सभी ने असत्य को अतिगर्हित मानते हुए इसका निषेध किया है।[28]

(6) **दुर्गति**—दुर्गति का अर्थ है—ऐसी गति में जाना जहां इंद्रियों की संपूर्णता और सुलभबोधिता की उपलब्धि न हो। दुर्गति में जीव को कष्टों की अनुभूति अधिक होती है। दुर्गति का कारण भावचौर्य कहा गया है। भावचौर्य का आधार तथा इसकी अभिव्यक्ति असत्य के माध्यम से ही होती है। इसलिए इन्हें कार्यकारण भाव से असत्य और इनके परिणाम को असत्य का परिणाम माना जा सकता है। भावचौर्य का कारण सस्ती लोकप्रियता पाने का लोभ ही होता है। उसे पाने के लिए व्यक्ति असत्य बोलता है। भावचौर्य पांच प्रकार के हैं—(क) तप—तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी कहना। (ख) वाणी—प्रवचनकार या ज्ञानी न होते हुए भी स्वयं को वैसा बताना। (ग) रूप—उच्च जातीय न होने पर भी स्वयं को वैसा बताना। (घ) आचार—आचार-संपन्न न होते हुए भी स्वयं को आचारवान बताना। (ड़) भाव—सूत्र और अर्थ को न जानते हुए भी अभिमानवश जानने का भाव प्रदर्शित करना।

तप-संयम साधना करने वाला यदि देवत्व को भी प्राप्त करता है तो भी उपरोक्त असत्य के कारण निम्न स्तरीय देव बनता है। देवों की ऋद्धि पाकर भी वह उसका उपयोग नहीं कर सकता। देवायुष्य समाप्त कर यदि वह मनुष्य बनता है तो गूंगा या बहरा होता है या नरक या तिर्यंचयोनि में जाकर दुर्गति पाता है।

इस प्रकार असत्य का प्रयोग द्रव्यतः और भावतः—दोनों ही दृष्टियों से हानिकर है। असत्यभाषी को भले ही क्षणिक आत्मसंतोष और लाभ हो जाए, परंतु दूरगामी परिणाम हानिप्रद ही होता है। असत्यभाषी इस जन्म में भी दुख पाता है और उसका भावी जन्म भी बिगड़ जाता है। इस प्रकार असत्य के विभिन्न अशुभ परिणामों का ज्ञान

असत्य का त्याग कर सत्य की साधना करने में सहयोगी बनता है।

सत्य का संकल्प

सत्य की साधना के लिए असत्य के स्वरूप, कारण और उसके परिणामों का ज्ञान कर लेने के बाद अगला आवश्यक कदम है—सत्य का संकल्प, अर्थात् सत्य की साधना करने का दृढ़ निश्चय। यहां से सत्य की आचरणात्मक यात्रा प्रारंभ होती है। महाव्रत धारण करने वाले साधक जीवन-भर के लिए तीन करण (करना, कराना, अनुमोदन करना), तीन योग (मन, वचन, काया) से असत्य का परित्याग करता है।[29] जो साधक अपनी कमजोरी के कारण सत्य महाव्रत स्वीकार नहीं कर सकता वह प्रयोग के रूप में अणुव्रत ग्रहण करता है। इसमें स्थूल मृषावाद का परित्याग किया जाता है। इसके विभिन्न स्तर होते हैं, साधक क्रमशः सत्य के विकास का अभ्यास करता है।

किसी भी साधना के लिए संकल्पबद्ध होना अतिआवश्यक है। संकल्प लेने से साधक सत्य-मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं को आसानी से समाहित कर सकता है।

भावना का प्रयोग

हमारी चेतना में असंख्य अज्ञात संस्कार भरे हुए हैं। जब भी अनुकूल निमित्त मिलते हैं, वे फिर जागृत हो जाते हैं। सत्य-साधक के लिए भी वह एक विकट समस्या है। जब दबे हुए असत्य के संस्कार जागृत होते हैं, तब सत्य के माहात्म्य का ज्ञान और सत्य का संकल्प दमित हो जाता है। व्यक्ति सत्य-पथ से पतित हो जाता है। स्पष्ट है कि अंतर्भावों में सत्य का अवतरण हुए बिना बाह्य उपचार चिरस्थाई नहीं होते। पूर्वाचार्यों ने इस समस्या के समाधान के लिए भावना की खोज की। जिन आत्मगुणों का विकास करना है, उन्हें बार-बार दोहराकर आत्मा को उनसे भावित करने को 'भावना' कहते हैं। इससे आंतरिक मूर्च्छा का वलय टूटता है और भावधारा में परिवर्तन आता है।

सत्य की साधना करने वाले साधक के लिए सत्य की भावना का प्रयोग आवश्यक है। इससे चेतना पर सत्य के संस्कार शक्तिशाली होते हैं और सत्यविरोधी निमित्तों से चेतना सुरक्षित रहती है। चेतना को सत्य भावना से भावित करने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने निम्न प्रयोग बतलाया है—

सत्य की अनुप्रेक्षा

1. महाप्राण ध्वनि 2 मिनट
2. लयबद्ध दीर्घश्वास 5 मिनट
3. सूक्ष्म भस्त्रिका 4 मिनट
4. कायोत्सर्ग 5 मिनट
5. संकल्प—'मैं सत्य के प्रति आस्थावान रहूंगा। मैं असत्य नहीं बोलूंगा, पूर्वाग्रह से बचूंगा।'

अभ्यास पद्धति—शांति-केंद्र पर चित्त को केंद्रित करें। फिर इस संकल्प की 15 मिनट तक पुनरावृत्ति की जाए—पांच मिनट उच्चारणपूर्वक, पांच मिनट मंद उच्चारणपूर्वक, पांच मिनट मानसिक अनुचिंतन के रूप में—15 मिनट

6. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग संपन्न करें—2 मिनट

भगवान महावीर ने आचरण से पहले ज्ञान को प्राथमिकता दी और आचरणशून्य ज्ञान को भी अनुपयोगी बताया। सत्य हमारी साधना का मौलिक आधार है। इसलिए प्रत्येक सत्य-पथिक का यह कर्तव्य है कि वह सत्य और असत्य के विभिन्न पहलूओं को समग्रता के साथ जाने और उन्हें जीवन में उतारे। 'एकै साधै सब सधै'—लोकोक्ति के अनुसार यदि एक सत्य की आराधना सम्यक् रूप से हो जाती है तो सभी आदर्शों का मूल सार प्राप्त हो सकता है। आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के इन दोनों पहलूओं के लिए सत्य सदा मंगलमय है। ❖

संदर्भ सूची

1. दशवैकालिक 6/12
2. आयारो 3/65
3. दशवै. 6/12 (टिप्पण)
4. आचारांग भाष्यम् 3(2)/40
5. (अ) दशवै. निर्युक्ति 174
   (ब) प्रज्ञापना
   (स) ठाणं
6. ठाणं 4/102
7. वही सत्यपद 4/349
8. समवाओ 35/1
9. उत्तराध्ययन 29/51
10. वही 29/52
11. वही 29/53

12. वही 30/आमुख
13. (अ) दशवै. 9(3)/3
    (ब) उत्तरा. 25/23
14. दशवै. 7/1-4
15. द. अ. चु., पृ. 11
16. दशवै. 7/11, 12
17. सूयगड़ो (1)/9/26
18. (अ) दशवै. नि. 176
    (ब) प्रज्ञापना
    (स) ठाणं
19. (अ) द. जि. चु., पृ. 148
    (ब) दशवै. 4/टिप्पण संख्या 50
20. (अ) आवश्यक
    (ब) दशवै. 4/12
21. वही 6/11
22. उत्तराध्ययन 1/14 (टिप्पण)
23. समवाओ 21/1
24. उत्तरा. 31/टिप्पण संख्या 36
25. दशवै. 6/12
26. उत्तरा. 32/31
27. ठाणं 6/100
28. दशवै. 6/12
29. दशवै. 4/12
30. अमूर्त चिंतन, पृ. 255

❖❖

भारतीय समाज इस समय संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। इस प्रक्रिया की गति बहुत तेज है और उसके कुछ परिणाम बहुत विघटनकारी हैं। एक ही समय में दो विपरीत ध्रुवों के आकर्षण ने उसमें लक्ष्य संभ्रम उत्पन्न कर दिया है और साधनों की नैतिकता को संशय के घेरे में खड़ा कर दिया है। एक ओर पश्चिम की जीवन-शैली का सम्मोहन है, दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के आग्रह हैं। कभी समाज एक ओर झुकता है, कभी दूसरी ओर। अनिश्चय और अनिर्णय की स्थिति समाज (या उसके कुछ भागों) से सुविधाजनक किंतु सिद्धांतहीन समझौते कराती है, जिनसे उभरती है एक त्रिशंकु संस्कृति—अवसरवादी, आधारहीन; कुछ पक्षों में हास्यास्पद और अपने व्यापक प्रभाव में पीड़ादायक। इस संस्कृति में सामाजिक विवेक का ह्रास होता है, पारस्परिक सरोकार और सहयोग के मूल्य और व्यवहार-प्रकार क्षत-विक्षत होते हैं और सामाजिक संस्थाओं का अवमूल्यन होता है। इस संस्कृति की व्यक्ति-केंद्रिकता मनुष्यता की सामूहिकता को क्षीण करती है। भोगवादी प्रवृतियां समाज को दिशाहीन बना देती हैं। वह न आने वाले संकट को देख सकता है और न उससे बचने के लिए संगठित और सार्थक प्रयास ही कर सकता है। एक अजीब-सा सांस्कृतिक शून्य सारे देश में व्याप्त हो रहा है, जिसमें परंपरा पर अंतहीन बहसें और औपचारिक संस्कृति-चिंताएं खोखली मालूम पड़ती हैं।

—श्यामाचरण दुबे

हरीश ने छोटे-से एक ही शब्द में उत्तर दिया, 'द्रव्यगुण!'
उत्सुकता के मारे आकुल होकर हमने पूछा, 'यह 'द्रव्यगुण' क्या बला है भला?'
प्रोफेसर कह उठे, 'और चाहे जो भी हो, मनगढ़ंत खयाल भर नहीं है, तंतर-मंतर नहीं है, बुद्धुओं को बहलाने-बहकाने वाली कोई बात नहीं है!'
हम जानने को अड़ गए, 'फिर यह 'द्रव्यगुण' है क्या? सो तो कहिए!'
प्रोफेसर ने कहा, 'ठहरिए, समझाकर कहता हूं। आग है तो बड़े अचरज की चीज, लेकिन तुम्हारे उन ऋषि-मुनियों की बात पर आग नहीं जला करती। उसके लिए ईंधन की जरूरत होती है। हमारा इंद्रजाल भी ठीक वैसी ही चीज है! इसके लिए सात बरस हर्र को आहार बनाकर तपस्या नहीं करनी होती। इसके लिए तो बस, द्रव्यगुण की जानकारी हासिल कर लेना-भर काफी होता है। जानकारी हो लेने पर जो चाहे वही जादू के खेल कर सकता है। तुम भी कर सकते हो, मैं भी कर सकता हूं।'

बालकथा

जादू के खेल

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कुसमी बोली, 'अच्छा दादाजी, सुना है कि कभी तुमने बड़ी-बड़ी बातों के बारे में बड़ी-बड़ी किताबें लिखी थीं!'

'जीवन में जो अनेक बुरे काम किए हैं, उन्हें कबूल तो करना ही पड़ेगा। भारतचंद्र ने कहा है, 'बहुत अधिक बातें करते जो लोग, बहुत अधिक झूठों का उनको रोग!'

'मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मैं तुम्हारा समय नष्ट कर देती हूं!'

'समय नष्ट करने के लिए योग्य व्यक्ति भाग्यवानों के पास ही जुटते हैं!'

'तो मैं ही तुम्हारी वह योग्य व्यक्ति हूं?'

'मेरा भाग्य अच्छा था कि मिल गईं, वरना ढूंढ़े भी नहीं मिलतीं।'

'तुमसे खूब लड़कपना कराती हूं!'

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म 7 मई, 1861 को हुआ। 'गीतांजलि' काव्य संग्रह का प्रकाशन सन् 1912 में हुआ और नोबल सम्मान नवंबर 1913 को प्राप्त हुआ। कविगुरु की जन्म जयंती (7 मई) पर उनका पावन स्मरण करते हुए यह रचना अपने पाठकों के लिए—

'देखो, इतने-इतने दिन मैंने गंभीरता की वरदी-पेटी पहनकर काटे हैं और सलामियां भी बहुत पाई हैं। अब तुम्हारे दरबार में पहुंचकर लड़कपने में ढीले-ढाले कपड़े पहने तो समझो कि राहत की सांस मिली। समय नष्ट करने की बात क्या करती हो बिटिया रानी, एक समय ऐसा था कि समय नष्ट करने की छूट मुझे तनिक भी नहीं थी। उस समय मैं समय का गुलाम था। आज मैंने उस गुलामी से मुक्ति पा ली है। अब जो थोड़े-से दिन बच रहे हैं, वे आराम से कटेंगे। लड़कपना करने को साथी पाकर लंबी-चौड़ी आरामकुरसी पर टांगें पसारे बैठा हूं। जो जी में आएगा, बकता चलूंगा। उसके लिए किसी के आगे सिर खुजा-खुजाकर कैफियत नहीं देनी होगी।'

'इस लड़कपने के नशे में ही तुम जो जी में आता है, मनगढ़ंत बातें बनाते रहते हो!'

'कौन-सी बात बनाई है भला?'

'जैसे तुम्हारे इन ह. च. हा. साहब की बात! ऐसा अजीब-गरीब सिड़ी आदमी तो कहीं नहीं देखा!'

'देखो बिटिया रानी, कभी-कभी ऐसे जीव पैदा होते हैं, जिनके अंग अजीब तरह के अष्टावक्री होते हैं। मेरे जादूघर में यह ह. च. हा. भी इसी तरह आए हैं।'

'इनके मिलने पर तुम्हें बड़ी खुशी हुई थी?'

हां, सो तो हुई थी। कारण, उस समय तुम्हारी ईरू मौसी ससुराल जा चुकी थीं। मुझे अवाक् कर देने वाले व्यक्ति का अभाव हो गया था। ठीक ऐसे ही समय में हरीशचंद्र हालदार पधारे थे। पूरे सिर की गंज लेकर। चकित कर डालने की इनकी रीति और ही थी। तुम्हारी ईरू मौसी की रीति के ठीक विपरीत। एक दिन तुम्हारी ईरू मौसी ने जटाई बुढ़िया की कहानी सुनाई थी। इस जटाई बुढ़िया के साथ अमावस की रातों को ही मुलाकातें हो सकती थीं। उस बुढ़िया का काम था— चांद में बैठकर चरखा चलाना। वह चरखा ज्यादा दिन चल नहीं पाया। ठीक ऐसे ही समय अपनी पारी जमाने आए प्रोफेसर हरीश हालदार। नाम के शुरू में जो पदवी है, वह उन्होंने आप लगाई है। उनके हाथ ऐसी 'सफाई' वाले हाथ थे, जिनसे जादू के खेलों की गहरी छनती थी। एक दिन मेघल सांझ के पहर चाय के साथ तला चिवड़ा खाने के बाद वह कह बैठे कि इंद्रजाल तो ऐसे-ऐसे भी हैं कि वह सामने जो दीवार दिखाई पड़ रही है, वह देखते ही देखते लोप हो जाए!

पंचानन भाई अपनी गंजी चांद पर हाथ फेरते हुए बोले, 'यह विद्या कभी थी तो सही। हमारे ऋषियों को मालूम थी।'

सुनते ही प्रोफेसर का पारा गरम हो गया और मेज पर मुक्का मारकर वह बोले, 'अजी, रहने भी दीजिए अपने ऋषि-मुनियों को, दैत्य-दानवों को, भूत-प्रेतों को!'

पंचानन भाई ने पूछा, 'तो आप क्या मानते हैं?'

हरीश ने छोटे-से एक ही शब्द में उत्तर दिया, 'द्रव्यगुण!'

उत्सुकता के मारे आकुल होकर हमने पूछा, 'यह 'द्रव्यगुण' क्या बला है भला?'

प्रोफेसर कह उठे, 'और चाहे जो भी हो, मनगढ़ंत खयाल भर नहीं है, तंतर-मंतर नहीं है, बुद्धुओं को बहलाने-बहकाने वाली कोई बात नहीं है!'

हम जानने को अड़ गए, 'फिर यह 'द्रव्यगुण' है क्या? सो तो कहिए!'

प्रोफेसर ने कहा, 'ठहरिए, समझाकर कहता हूं। आग है तो बड़े अचरज की चीज, लेकिन तुम्हारे उन ऋषि-मुनियों की बात पर आग नहीं जला करती। उसके लिए ईंधन की जरूरत होती है। हमारा इंद्रजाल भी ठीक वैसी ही चीज है! इसके लिए सात बरस हर्र को आहार बनाकर तपस्या नहीं करनी होती। इसके लिए तो बस, द्रव्यगुण की जानकारी हासिल कर लेना-भर काफी होता है। जानकारी हो लेने पर जो चाहे वही जादू के खेल कर सकता है। तुम भी कर सकते हो, मैं भी कर सकता हूं।'

'कहते क्या हैं, प्रोफेसर साहब? इस दीवार को हवा कर देने का काम मैं भी कर सकता हूं?'

'क्यों नहीं भला? ह्रीङ्-फ्रीङ् करने की जरूरत नहीं होती, जरूरत होती है माल-मसाले की!'

मैं बोला, 'कह भी डालिए न! इसके लिए क्या-क्या चीजें चाहिए?'

'अभी बताता हूं। कोई खास चीज नहीं चाहिए। बस, विलायती अमड़े की एक गुठली और लोढ़ा-सिलबट्टा।'

मैं बोला, 'यह तो बड़ी आसान बात है। अमड़े की गुठली और सिलबट्टा ला दूंगा, तुम इस दीवार को उड़ा देना।'

'अमड़े का पेड़ ठीक आठ बरस सात महीने का होना चाहिए। उसका अंकुर बदी-पाख की द्वादशी को चांद निकलने के ठीक एक दंड पहले का फूटा होना चाहिए। और उसकी यह जन्मतिथि शुक्रवार को पहर-भर रात रहे से पड़ी होनी चाहिए। और शुक्रवार भी अगर उन्नीस अगहन का न रहा हो तो बेकार होगा।

सोच-समझ लो भाई, इसमें कहीं कोई धोखाधड़ी या चमका नहीं है। दिन, पहर, दंड-तिथि-मिति सब-कुछ पक्की तरह बंधे-बंधाए हैं।'

हमने सोचा, बात तो सुनने में बड़ी बेलाग मालूम होती है! बूढ़े माली को ऐसी लग्न-मुहूरत-चुस्त गुठली की खोज में लगा देने की बात ठहरी।

प्रोफेसर ने कहा, 'एक मामूली-सी शर्त और। सिलबट्टा धवलेश्वर पहाड़ की चट्टान का हो, जो तिब्बती लामाओं द्वारा कलिमपोङ के बाजार में बेचने के लिए लाया गया हो।'

पंचानन भाई ने गंजी खोपड़ी के इस पार से उस पार तक हाथ फेरने के बाद कहा, 'मामला तो बड़ा कठिन लगता है!'

प्रोफेसर बोले, 'इसमें कठिनाई की कौन-सी बात है? तलाश हो तो ऐसी कौन-सी चीज है, जिसका सुराग न मिले?'

मैंने मन-ही-मन सोचा, तलाश तो करके रहूंगा! इनके लिए बच निकलने का कोई बहाना नहीं रहने देना चाहिए।

पूछा, 'उसके बाद क्या करना होगा? सिलबट्टा लेकर क्या करेंगे?'

'ठहरिए, अभी एक छोटी-सी फरमाइश और है। एक दक्षिणावर्त शंख भी चाहिए।'

पंचानन भाई ने कहा, 'उस शंख को पाना तो कोई हंसी-खेल नहीं! जिसे मिलता है, वह राजा हो जाता है!'

'हुंह, राजा नहीं, गधे का सींग हो जाता है! शंख शंख है। जिसे अपनी बंगला भाषा में कहते हैं 'शांख'। उस शंख को अमड़े की गुठली से सिल के ऊपर रगड़ना होगा। घिसते-घिसते गुठली का कोई नाम-निशान भी बचा नहीं रहेगा और शंख भी समाप्त हो जाएगा। सिल घिस-घिस कर चटनी जैसा बन जाएगा। बस, द्रव्य तैयार। दीवार पर उसी का लेप लगा दिया जाए। फिर और कुछ भी करने की जरूरत नहीं। इसी को कहते हैं 'द्रव्यगुण'। दीवार द्रव्यगुण से ही दीवार हुई है। किसी मंतर के बल पर नहीं। और द्रव्यगुण से ही वह फिर धुआं बनकर उड़ जाएगी। इसमें अचंभे की बात कौन-सी है भला!'

मैंने कहा, 'ठीक तो! बात बिल्कुल सच लगती है!'

पंचानन भाई बाएं हाथ में हुक्का लिए थे, दाएं हाथ को सिर पर फेरने लगे। हमारी तलाश का कोई फल नहीं निकलने के कारण यह मामूली-सी बात साबित होने से रह गई। इतने दिनों बाद महसूस हुआ था कि ईरू के मंतर, तंतर, राजमहल आदि सभी बे-सिर-पैर की बातें हैं। लेकिन अध्यापक महोदय के द्रव्यगुण में कहीं कोई ठग-विद्या नहीं! दीवार ठोस की ठोस बनी रही। अध्यापक महोदय पर हमारी भक्ति भी अडिग बनी रही। लेकिन संयोग की बात—एक बार न जाने मन की किसी भूल से परवश होकर उन्होंने द्रव्यगुण को हमारी पकड़ की पहुंच के भीतर भटक आने की छूट दे दी। दावा था—गुठली को मिट्टी में गाड़ने के घंटे-भर के भीतर ही पेड़ भी तैयार मिलेगा और उसमें फल भी लगे होंगे।

हमने कहा, 'आश्चर्य!'

ह. च. हा. ने कहा, 'आश्चर्य की कोई बात नहीं, सब द्रव्यगुण की करामात है! गुठली को नागफनी के लासे में इक्कीस बार लपेटकर इक्कीस बार सुखाइए। उसके बाद मिट्टी में गाड़कर देखिए कि क्या होता है!'

हम शर्त पूरी करने में जी-जान से जुट पड़े। लासा लगाने और सुखाने में लगभग दो मास लगे। अचंभे की बात, पेड़ भी हुआ और फल भी! लेकिन घंटे-भर में नहीं, पूरे सात साल में। अब समझा है कि द्रव्यगुण किसे कहते हैं! ह. च. हा. ने कहा :

'लासा ठीक नहीं लग पाया!'

हमने समझ लिया कि यह ठीक लासा दुनिया में कहीं नहीं मिलता। लेकिन यह समझने में समय लगा है। ❖

अनुवाद : **युगजीत नवलपुरी**

संकल्प : विकास का सेतु पृष्ठ 33 का शेष

जैन मत में सम्यक् दर्शन को आचार की मूल भित्ति माना गया है। सम्यक्-दर्शन को पोषण देने वाली प्रवृत्ति को आचार माना गया है और इसमें बाधा उपस्थित करने वाली प्रवृत्ति को अतिचार कहा गया। शंका, संशय, भ्रम, भय से मुक्त मनःस्थिति को आचार का प्रथम अंग स्वीकार किया गया। 'लेकिन', 'किंतु', 'परंतु', 'या', 'शायद'—आदि ऐसे शब्द हैं, जो संकल्प-पथ में अवरोधक का संकेत देते हैं। संकल्प-पथ के इन अवरोधक शब्दों से मुक्त होकर ही सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाया जा सकता है।

सृष्टि का निर्माण संकल्प से ही होता है।

जब संकल्प जागता है—सफलता स्वतः मिलती है। जब संकल्प शिथिल होता है तो सफलता भी कोसों दूर चली जाती है। रामायण का एक प्रसंग है—राम के सामने प्रश्न था—लंका से सीता का संवाद कौन लाए? सुग्रीव आदि मौन थे। वयःप्राप्त जामवंत से हनुमान को एक संकेत मिला—'कवनहु काज कठिन जग मांही, जो नहिं होहि तात तुम पाही'—ऐसा कौन-सा काम है जिसे तुम नहीं कर सकते! इस एक वाक्य से हनुमान का जोश जाग जाता है। वे न केवल सीता का संवाद ही लेकर आए, अपितु अंततः सीता को मुक्त कराने में भी समर्थ हो गए।

संकल्प से सफलता-असफलता को स्पष्ट करते हुए ज्ञातधर्मकथा में एक प्रसंग आता है—द्रौपदी का हरण राजा पद्मनाभ कर लेता है। वह धातकीखंड के अमरकंकानगरी का राजा है। द्रौपदी को वह वहीं ले जाता है। द्रौपदी को वापस लाने पांडव श्रीकृष्ण के साथ वहां जाते हैं। संग्राम का प्रसंग सामने आता है। पांडवों ने सोचा—पहले हम ही संग्राम में जाते हैं। श्रीकृष्ण से अनुमति लेकर वे युद्धक्षेत्र में जाते हैं। जाते समय उनके मन में विचार उठा—'युद्ध में विजयी हम होंगे या पद्मनाभ—अम्हे वा पउमणाभे!' यह संदेहास्पद भाव जैसे ही बीच में आया, स्थिति भी प्रभावित हो गई। वे युद्ध में पराजित हुए और श्रीकृष्ण के पास पहुंचे। अब श्रीकृष्ण को युद्धक्षेत्र की ओर अभिमुख होना था। समय के साथ ही संकल्प जाग उठा—'अम्हे, णो पउमणाभे—हम ही विजित होंगे, न कि पद्मनाभ और शीघ्र ही यह संकल्प 'सिद्धिश्री' में परिणत हो गया, सफलता मिली। अतः यदि संकल्प स्थिर हो जाए तो व्यक्ति दुनिया को हिला सकता है।

जैन दर्शन की भाषा में तत्त्व के प्रति यथार्थ श्रद्धान—निःशंक रहना सम्यक् दर्शन का आचार है। सम्यक्दृष्टि सदा असंदिग्ध और अभय होता है। निःशंकित आचार से जब सम्यक् दर्शन को सिंचन मिलेगा—सिद्धि स्वतः सम्मुख होगी। ❖

सच कहें तो निम्नातिनिम्न जीवों में भी उपस्थित यह सुख-दुख की अनुभूति, यह भावनात्मक संवेदना ही जीवन का आधार है। गणितीय क्षमता या तार्किकता वह गुण नहीं है जो जीव जगत को या मनुष्य को निर्जीव जगत से अलग करता है। उसका मूल गुण जो उसे चेतनाशून्य जगत से अलग करता है वह है उसकी संवेदनशीलता जिससे वह सुख अथवा दुख का अनुभव करता है। वैसे तो सारा ब्रह्मांड—परमाणुओं और सूक्ष्म क्वार्कों से लेकर विशाल पदार्थ-पुंजों, तारों, ब्लैक होल और नीहारिकाओं तक—गणितीय नियमों से बंधा लगता है जिससे इसमें व्याप्त तत्त्वों में वैसी संगति दिखाई देती है जिसके अन्वेषण में भौतिक शास्त्री लगे हैं। लेकिन जो चीज इस सारे भौतिक संसार में नदारद है वह है वैसी अनुभूति जिसके प्रभाव में वह कुछ स्थितियों से बचना चाहता है और कुछ अन्य स्थितियों की तरफ आकृष्ट होता है। ज्यादा-से-ज्यादा सक्षम रोबोट में भी, जिसकी कल्पना की जा सकती है—यह अनुभूति का गुण नहीं है। जबकि किसी अकिंचन जीव में भी यह गुण है। यह दोनों के बुनियादी फर्क को रेखांकित करता है। दोनों के बीच यह एक ऐसी अलंघ्य सीमारेखा है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। यही जीवन की विशिष्टता है।

—सच्चिदानन्द सिन्हा

With Best Compliments From :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

BANGALORE 4 world class Showrooms

Gandhinagar ☆ Ph : 2264551, 2204189, Fax : 2262123

Brigade Road Ph : 2228032, 2270126, Fax : 2235555

Sadashivnagar ☆ Ph : 3619195, 3619196, Fax : 3611448

Jayanagar Ph : 6566140, 6566141, Fax : 6566142

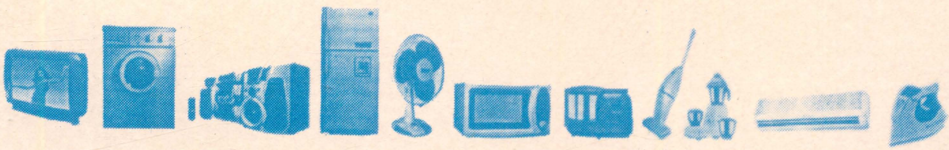

COIMBATORE 2 world class Showrooms

Dr. Nanjappa Road Ph : 233059, Fax : 231675

Cross Cut Road Ph : 236486, Fax : 236487

MANGALORE
NALPAD APSARA CHAMBERS
K. S. Rao Road, Hampan Katta
Tel. : 2442220, 2442880

TIGER 388292

KARNATAKA FILATEX
(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)
Magadi Chord Road, BANGALORE 560079
Ph. 23353714

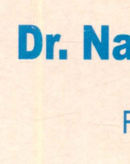

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.
Pingalkot, Post. Kausani
Dist. Bageshwar, Uttaranchal
Ph. : 059 62 45330 / 331 Fax : 45314

PHILIPS ONIDA Whirlpool VIDEOCON Electrolux Kelvinator SHARP IFB LG SAMSUNG BPL SONY

Godrej THOMSON SANSUI AIWA USHA LEXUS FORBES GLEN APPLIANCES BRAUN MAHARAJA kailash ULTRA GRIND

जैन भारती, मई, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।